सृष्टि की कथा

लेखक—

डॉक्टर सत्यप्रकाश, डी० एस्-सी०

प्रकाशक—

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन,

प्रयाग

अगस्त, १९३७

परिचय

यह विज्ञान का युग है। आधुनिक काल में इस बात की आवश्यकता है कि हमारे यहाँ के बालकों को विज्ञान सरल से सरल भाषा में मनोरञ्जक रीति से समझाया जावे। इस प्रकार की पुस्तक प्रकाशित करने का विचार सम्मेलन बहुत दिनों से कर रहा था। डॉ० सत्यप्रकाश ने सम्मेलन के इस दृष्टिकोण को बड़ी सफलतापूर्वक निभाया है। डॉ० साहब प्रयाग विश्वविद्यालय में रसायन के अध्यापक हैं और आपने थोड़े ही समय में यथेष्ट ख्याति प्राप्त कर ली है। प्रयाग विश्वविद्यालय के विज्ञान विभाग से प्रकाशित होने वाले 'विज्ञान' मासिक पत्र को जिन्होंने पढ़ा है, वे डॉक्टर साहब की विद्वत्ता से काफ़ी परिचित हैं। आशा है, यह पुस्तक विद्यार्थियों के बड़े काम की होगी।

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग
१—८—३७

—रामकुमार वर्मा
(साहित्य-मन्त्री)

भूमिका

कई वर्ष हुए, मेरा विचार एक ऐसी छोटी पुस्तक लिखने का हुआ, जिसको पढ़ कर साधारण विद्यार्थी, जिनका विज्ञान से अधिक सम्बन्ध नहीं है, सृष्टि के सम्बन्ध में कुछ बातें जान जायँ। इस आशय से एक लेखमाला मैंने 'विज्ञान' नामक मासिक पत्र में देनी आरम्भ की। यह लेखमाला ही आवश्यक परिवर्तनों के साथ अब पुस्तकाकार प्रकाशित की जा रही है। पुस्तक में प्रकाशित लगभग समस्त चित्रों के ब्लॉक 'विज्ञान-परिषद्, प्रयाग' की कृपा से प्राप्त हुए हैं, अतः लेखक परिषद् का अनुगृहीत है। दो ब्लाक 'हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग' की कृपा से भी मिले, जिसके लिए हम उक्त संस्था के मन्त्री महोदय के ऋणी हैं।

पुस्तक में किसी भी विषय की विस्तृत मीमांसा करना तो सम्भव न था, सामान्य रूप से दिग्दर्शन मात्र करा दिया गया है। हिन्दी में इस विषय के ग्रन्थ हैं ही नहीं। श्री० डॉ० गोरख-प्रसाद जी का "सौर-परिवार" और श्री० रामदास जी गौड़ का "विज्ञान-हस्तामलक" ये दोनों ग्रन्थ भी इस पुस्तक के पाठकों को पढ़ने चाहिए।

पहले अध्याय की विषयोचित भाषा को छोड़ कर समस्त पुस्तक में सरल भाषा का ही प्रयोग किया गया है, और सर्वत्र यह प्रयत्न किया गया है कि पाठकों को समझने में कठिनाई न पड़े। तब भी विषय तो वैज्ञानिक है ही, और कम से कम हाई-स्कूल या प्रथमा परीक्षा तक की जिनकी योग्यता होगी वे ही इससे लाभ उठा सकेंगे।

लेखक हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग का ऋणी है, जिसकी कृपा से यह पुस्तक इस रूप में प्रकाशित हो रही है। यह पुस्तक अधिक चित्रमय की जा सकती थी, पर इस समय इतना ही सम्भव हो सका।

कला कुटीर,)
प्रयाग)

— सत्यप्रकाश
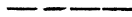
विषय-सूची

पहला अध्याय—सृष्टि-सौन्दर्य १

दूसरा अध्याय—भूलोक ११

तीसरा अध्याय—जल-लोक २६

चौथा अध्याय—अन्तरिक्ष ४३

पाँचवाँ अध्याय—आकाश ५८

छठा अध्याय— नीहारिकायें ८५

सातवाँ अध्याय—उल्का १०१

आठवाँ अध्याय—धूमकेतु १०७

नवाँ अध्याय—पृथ्वी का इतिहास... ... ... ११२

दसवाँ अध्याय—शिलायें और प्रस्तर १२८

ग्यारहवाँ अध्याय—पृथ्वी पर परिवर्तन १३५

बारहवाँ अध्याय—भारतवर्ष की भौगर्भिक परिस्थिति ... १५०

तेरहवाँ अध्याय—जीवन का आरम्भ १७०

चौदहवाँ अध्याय—वनस्पतियों का विकास १८३

पन्द्रहवाँ अध्याय—पशुओं का अवतार १९९

—— — ——

चित्र-सूची

चित्र सं०	चित्र	पृष्ठ
१	शनि का वलय	८०
२	सप्तर्षि और कश्यप मंडल	८३
३	आकाश-गंगा	८७
४	मृगशीर्ष नीहारिका	८९
५	एराड्रोमीडा नीहारिका	९०
६	किरण-चित्र	९६
७	ब्रूक्स धूमकेतु	१०८
८	सन् १८८२ का पुच्छल तारा	११०
९	सिलूरियन समय का उत्तरी अमेरिका	१४६
१०	ओर्डोवीसियन समय की पृथ्वी	१४७
११	प्रोटोकोकस	१९२
१२, १३	बहुपत्रक या फर्न	१९५
१४	ओर्डोवीसियन समय का स्पञ्ज	२०४
१५	सिलूरियन काल का मूँगा	२०५
१६	कार्बोनिफेरेस काल की मूँगे की भित्ति	२०५
१७	त्रयङ्गी	२०६

चित्र सं०	चित्र	पृष्ठ
१८	भुजपदी	२०७
१९	प्राचीन जल-जीव	२१०
२०	भीमकाय डिनोसौर	२१३
२१	डिनोसौर की ठठरी	२१४
२२	भीमकाय पशु	२१७
२३	फर्नों में स्थित प्राचीन विशाल जन्तु	२१९
२४	प्राचीन गैंडा	२२०
२५	कपि या बानर	२२१

सृष्टि की कथा

पहला अध्याय

सृष्टि-सौन्दर्य

एक ऐसे स्थल की कल्पना कीजिये, जिसमें प्रकृति-राशि की प्रचुरता विद्यमान हो, जहाँ सरिता हों, सरोवर हों, और कहीं-कहीं पर छोटे-छोटे मनोहर पर्वतों के दृश्यों का भी आनन्द मिल सके। इस स्थल के समीपवर्ती प्रदेश में सघन वनों का समूह हो तो और भी अच्छा है। नैसर्गिक उपवनों में विहार करने वाले चतुष्पदी पशु और उपवन की सुगन्धित पराग को गगन-स्थल में विकीर्ण करने वाले विहंग-वृन्द भी जहाँ किलोलें कर रहे हों। यही नहीं, इस स्थल की उस चित्ताकर्षक कान्ति का भी स्मरण कीजिये जब यहाँ की अनिर्वचनीय अतुल सम्पत्ति को देख कर प्रभात-काल में भगवान सूर्यदेव मन्द-मन्द मुसकान से हँस रहे हों और रश्मि-करों द्वारा अपने अतुल वैभव को इस प्रान्त की शोभा पर निछावर कर रहे हों। इस समय सभी आनन्द में हैं, छोटे-छोटे फूल भी हँस रहे हैं, मञ्जुल लताएँ भी नव-जीवन प्राप्त

कर रही हैं, मदोन्मत्त नदियाँ भी उमड़ी चली आ रही हैं, पक्षियों के कण्ठ में भी उन्माद राग उत्पन्न हो गया है और वे भी प्रसन्न-चित्त रसीले गान गा रहे हैं। सूर्योदय में वह चमत्कृत शक्ति है, जो जड़ पदार्थ में जीवन और जीवित पदार्थों में उन्माद उत्पन्न कर देती है।

सूर्योदय के पश्चात् सम्पूर्ण जगती अपने कार्य-सञ्चालन में व्यस्त हो जाती है, प्रभात-काल का अरुण बाल-सूर्य धीरे-धीरे अपना तेज बढ़ाने लगता है। एक ऐसी अवस्था आती है, जब इस धरा के किसी भी प्राणी की इतनी शक्ति नहीं होती कि इस आकाश के अधिपति की ओर खुले नेत्रों से देख भी सके। उसके प्रचण्ड तेज का आतप सर्वत्र छा जाता है। प्रातःकाल के विकसित सुमन अब खिन्न-हृदय दिखाई पड़ने लगते हैं, लताओं के वदन भी उदासीन हो जाते हैं, बेचारे पशु-पक्षी किसी विशाल वृक्ष की छाया में अथवा शान्तिदायिनी सरिता के अङ्क में बैठे हुए कुछ निरुत्साहित दिखाई पड़ते हैं। शीतल भूमि भी अब तप्त हो जाती है। सरिता के समीप रहने वाली सिकता भी अब इतनी गरम हो जाती है कि उस पर नंगे पैर चलना दुष्कर हो जाता है।

मध्याह्न काल के उपरान्त फिर परिवर्त्तन होता है, सूर्य का तेज अब मन्द पड़ता जाता है। सायंकाल तक वह फिर अपनी पूर्वावस्था में आ जाता है। प्रातः के सूर्य में जीवन था, पर इस समय वह व्यथित दिखाई पड़ता है। उसे अब विश्राम लेने की

आवश्यकता होती है। इस सृष्टि के चराचर प्राणी-अप्राणी सभी अब विश्राम के लिये लालायित दिखाई पड़ते हैं। चिड़ियाँ थकी-माँदी अपने घोंसलों को लौटने लगती हैं, अपने छोटे-छोटे बच्चों को वे सस्नेह चुगाती हैं और तदुपरान्त थपथपियाँ देकर सुलाने का प्रयत्न करती हैं। गायें इस गोधूली बेला में अपने घर को लौट आती हैं, अन्य पशु भी अब व्यथित दिखाई पड़ते हैं और वे भी सुख की नींद सोना चाहते हैं। इस समय आकाश भी तरह-तरह के रंग बदलता है। कहीं लाली छा जाती है तो कहीं-कहीं हरी, नीली, पीली और नारङ्गी रङ्ग की किनारियों से विभूषित पटल द्वारा आकाश अपने शरीर को सजाता प्रतीत होता है। पर उसके ये रंग बहुत शीघ्र ही परिवर्तित हो जाते हैं। धीरे-धीरे सूर्यास्त के साथ-साथ सम्पूर्ण व्योम-मण्डल में निस्तब्धता छा जाती है। बस दिन की लीला समाप्त होती है।

चारों ओर अँधेरा छा जाता है। सम्पूर्ण पृथ्वी काले वस्त्र धारण कर लेती है। वृक्ष के पत्ते सो जाते हैं, चिड़ियों का मधुर गान बन्द हो जाता है, पशुओं का बिहार करना भी शिथिल पड़ जाता है। सर्वत्र निद्रा का साम्राज्य छा जाता है। सरिता अब भी पूर्वोन्माद में बहती चली जाती है, पर उसके प्रवाह में प्रेम के स्थान में अब भय की मात्रा अधिक दृष्टिगत होती है। उसके तट पर मण्डूकों की तुमुल ध्वनि चित्त को और भी डरा देती है। सरिता का प्रत्येक तरङ्गोत्पात हृदय पर वज्र के समान पड़ता प्रतीत होता है। यह तो नदी की अवस्था है। वायु भी मन्द-मन्द मस्त चला जा रहा

है। उसका स्पर्श कितना सुखदायी है। मध्याह्न काल के उत्ताप से व्यग्र प्राणी इस समीर के शान्त प्रवाह द्वारा पुनः आश्वासन प्राप्त करते हैं।

पर रात्रि की रमणीकता पृथ्वी में नहीं है। चारों ओर गूढ़ तमिस्रा का व्याप्तिमान होना हमारे विश्राम का अवश्य कारण होता है, पर शय्या पर लेटे हुए यदि कहीं हमारी आँखें व्योम-वितान की ओर चली जायँ तो फिर क्या कहना है। नीले निस्तब्ध आकाश में दीपावली का दृश्य चित्त को आनन्द की हिलोरों से परिस्रावित कर देता है। नक्षत्र-गणों की अतुल राशि धरा के वैभव को परास्त कर देती है। जिस प्रकार प्रातःकाल में हमारे उपवन के स्वर्णमय फूल हँसते थे, उसी प्रकार इस गगनोपवन में ये आलोकमय पुष्प मन्द-मन्द मुसका रहे हैं। नीले पटल पर जटित सहस्रों नहीं, ये लाखों रत्न कितने मनोमोहक प्रतीत होते हैं, इसका अनुमान भी लगाना सम्भव नहीं है।

आकाश के ये तारे भी विचित्र हैं। कुछ तो हमारे बहुत निकट प्रतीत होते हैं और कुछ हमसे बहुत दूर। चमचमाते हुए नक्षत्र अपनी विभिन्न ज्योति से धरा की अन्ध-तमिस्रा को विच्छिन्न करने का सतत प्रयत्न कर रहे हैं, पर यह कृत्य इनकी शक्ति के बाहर है। धीरे-धीरे इन्हीं तारों में होती हुई एक तेजो-राशि सम्मुख आती है। इस राशि का नाम ही चन्द्रमा है, इसे ही रजनी-पति या राकेश कहते हैं। कल्पना कीजिये कि यह पूर्णिमा की रात्रि है। चन्द्रोदय के साथ ही निशा की सम्पूर्ण

कालिमा अकस्मात् विलीन हो जाती है। नभोमण्डल देदीप्यमान हो उठता है, भूमि पर दूध के समान श्वेत ज्योत्स्ना फैल जाती है।

इस रजतवर्ण चन्द्रिका से जगती सुसज्जित हो जाती है। इसके शीतल आवरण में संसार की समस्त व्यथाएँ लुप्त हो जाती हैं। किसी सरोवर के तट पर खड़े होकर इस चाँदनी के दृश्य का अनुभव कीजिये, निर्मल जल के अन्दर नील आकाश का बिम्ब और उसमें चमकते हुए तारों की असंख्य ज्योतियाँ एवं प्रत्येक तरङ्ग के उत्थान-पतन के साथ जलान्तर्गत अनेक चन्द्र-माओं की झिलमिलाती हुई मनोमोहक कान्ति सृष्टि के प्रासाद में विचित्र कौतूहल उत्पन्न करती है। यह पूर्णिमा की रात्रि व्यथित हृदय में शान्ति, आलोक और क्षमता उत्पन्न करती है। सायं-काल से प्रातःकाल तक भूमि भी इस रात्रि में क्षीरसागर बन जाती है।

पूर्णिमा के पश्चात् चन्द्रमा की कला प्रतिदिवस क्षीण होती जाती है, धीरे-धीरे चन्द्रोदय में विलम्ब होने लगता है। पूर्णचन्द्र से अर्धचन्द्र रह जाता है और यह अर्धचन्द्र भी केवल नख की वक्र परिधि के समान तीन-चार दिन तक ही रहता है। तत्-पश्चात् अमावस्या के दिन भूलोक का अन्धकार चन्द्रराशि पर पूर्ण विजय प्राप्त कर लेता है। अब बेचारे रजनी-पति का कहीं पता भी नहीं चलता है। चारों ओर अँधेरा छा जाता है। गगनांगण में चमचमाते हुए तारे इस अमावस्या में पूर्णिमा के दिन से भी

अधिक निर्मल, निर्भ्रान्त एवं कान्तिमय प्रतीत होते हैं। अमावस्या की रात्रि में भी अगाध सौन्दर्य है, पर यह पूर्णिमा के सौन्दर्य से भिन्न है। अस्तु, धीरे-धीरे रात्रि के व्यतीत हो जाने पर ब्रह्ममुहूर्त्त आता है। दिन में सूर्य की प्रखर रश्मियों द्वारा उत्तप्त धरा रात्रि में शीतल पड़ जाती है। प्रातःकाल फिर शीतल मन्द सुगन्ध समीर का प्रवाह आरम्भ हो जाता है। कुछ समय पश्चात् फिर उषाकाल आता है और सम्पूर्ण दिशाओं का फिर विरञ्जित शृङ्गार आरम्भ होता है। फिर दिन होता है और दिन के बाद रात आती है और रात के बाद फिर दिन आता है। इस प्रकार सृष्टि में दिवस-रात्रि का यह चक्र निरन्तर चलता रहता है।

सृष्टि के जिस सौन्दर्य का उल्लेख ऊपर किया गया है वह केवल एक दिन-रात का सौन्दर्य है। पर इसके अतिरिक्त सृष्टि का रङ्ग प्रतिदिन बदलता रहता है। उस वसन्त ऋतु का स्मरण कीजिये, जिसमें सर्वत्र हरियाली छायी हुई थी। सुन्दर-सुन्दर पीले फूल छोटे-छोटे पौधों पर शोभा दे रहे थे। रसाल के वृत्त मञ्जरी से लदे हुए थे, कोयल मधुर कण्ठ से पञ्चम स्वर आलाप रही थी। यह सृष्टि का यौवन था। प्रत्येक व्यक्ति मस्त था, खेतों में अन्न की स्वर्ण-राशि फैली हुई थी। पर दो मास के वसन्त के उपरान्त ही ग्रीष्म का उत्ताप पृथ्वी पर प्रचण्ड रौद्र रूप में अवतरित होने लगता है। दग्ध लूकें पशु-पक्षियों और प्राणियों को झुलसाने के लिये चलने लगती हैं। नदी, नाले और तालाब सूख जाते हैं। प्रबल सरिताओं का वेग भी कम हो जाता है। ग्रीष्म

ऋतु भी दो मास के पश्चात् ही विलुप्त हो जाती है। धीरे-धीरे आकाश-मण्डल काले-काले मेघों से आच्छादित होने लगता है। सूर्य्य के दर्शन भी होने दुर्लभ हो जाते हैं। इस जलद-पटल में घोर गर्जना आरम्भ होती है। बादलों की कड़कड़ाहट और गड़गड़ाहट हृदय विदीर्ण करने लगती है। आकाश में घोर युद्ध आरम्भ हो जाता है। बिजली कड़कती है, और मूसलाधार पानी की अनवरत वर्षा आरम्भ हो जाती है। प्रत्येक स्थान जल से परिपूर्ण हो जाता है। नदी और नाले उमड़-उमड़ कर चलने लगते हैं। नदियों की भूमि के किनारे कटकट कर चकनाचूर हो जाते हैं। यदि कभी वर्षा बन्द हुई और सूर्य्य ने अपने दर्शन दिये तो फिर आकाश में नील वर्ण छा जाता है और ऐसे अवसर पर कभी-कभी अकस्मात् इन्द्रधनुष का रङ्ग-विरङ्ग रूप में प्रकट होना अत्यन्त भावुक प्रतीत होता है। यही नहीं, वर्षा ऋतु में पौधों और वृक्षों में नया जीवन आ जाता है। सर्वत्र हरियाली का फिर साम्राज्य छा जाता है। वनोपवनों में अनेक छोटे-मोटे कीड़े-मकोड़ों का जन्म होता है। इन क्षणभंगुर जीवों की सृष्टि विचित्र है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये जीव केवल मरने के लिये ही जन्म लेते हैं। नित्य असंख्य जीवों का पैदा होना और क्षण में मर जाना—यह एक विचित्र पहेली है।

दो मास की वर्षा भी एक दिन समाप्त हो जाती है। आकाश फिर निर्मल हो जाता है। शरद ऋतु के सौन्दर्य्य में भी फिर परिवर्तन होता है और धीरे-धीरे शीतकाल अपने आने का सन्देश

भेजने लगता है। हेमन्त ऋतु से जाड़ा आरम्भ हो जाता है और शिशिर ऋतु में इसका प्रकोप उच्चतम सीमा तक पहुँच जाता है। प्रातः और सायङ्काल में कोहरा संसार को अदृश्य बना देता है। ये छोटे-छोटे हिमकण भी सृष्टि-सौन्दर्य्य में एक विशेष स्थान रखते हैं। शीतकाल शान्ति का समय है। इस समय के जीवन में न तो उन्माद होता है और न उदासीनता। ऋतुओं का इस प्रकार एक चक्र पूर्ण हो जाता है और फिर दूसरा चक्र आरम्भ होता है। इस अनन्त सृष्टि में इस प्रकार के अनन्त चक्र अनन्त काल तक होते रहेंगे। संसार के इस चक्र में विशेष रहस्य है।

सृष्टि के जिस सौन्दर्य्य का उल्लेख ऊपर किया गया है, उसका अनुभव प्रत्येक व्यक्ति को नित्य-प्रति होता रहता है। इसके लिये न किसी प्रयास की आवश्यकता है और न किसी साधन विशेष की। यदि आप काशी या कानपूर में रहते हैं तो भागीरथी गङ्गा के तट पर प्रातः-सायं विहार करके इस प्रकृति-सौन्दर्य्य का आनन्द लूट सकते हैं। प्रयाग में गंगा-यमुना के श्वेत-श्याम-संगम पर प्रातः अरुणोदय के समय इस नैसर्गिक दृश्य की मनोमोहकता का अनुमान लगाया जा सकता है। हरे-भरे खेतों में कार्य्य करने वाले ग्रामीण कृषक छोटे-छोटे पादपों और पौधों के विकास की उत्तरोत्तर शृंखलाओं का अध्ययन करते हुए सृष्टि के अलौकिक सौन्दर्य्य का अनुभव करते हैं।

पर हमारी सम्पूर्ण सृष्टि का अन्त इन उपवनों, सरिताओं और खेतों में ही नहीं हो जाता है। प्रकृति के गूढ़ रहस्य अज्ञात्

स्थलों में छिपे रहते हैं। इन स्थानों के सौन्दर्य का अनुमान लगाने के लिये हमें हिम प्रदेश के उच्चतम शिखरों पर पहुँचना होगा। हमको कल्पना-शक्ति द्वारा इस भूगोल के उत्तरीय और दक्षिणीय ध्रुवों के षड्मासिक दिवस एवं रात्रियों का अनुमान करना होगा। यही नहीं, ध्रुवप्रदेश की उस अलौकिक मेरु-ज्योति की कौतूहलकारिणी चित्ताकर्षिणी कान्ति का भी रसास्वादन करना होगा। हमारे लिये यह भी आवश्यक होगा कि निरन्तर हिमाच्छादित ग्रीनलैण्ड आदि के समान प्रदेशों के सौन्दर्य्य का भी दिग्दर्शन करें। इसी प्रकार सहारा और अरब की नीरस रेणुमयी मरुभूमियों में भी सृष्टि का दूसरा रूप हमको देखने में मिलेगा।

पर अज्ञेय सृष्टि के परिज्ञान के हेतु महासागरों की उत्ताल तरङ्गों की स्तुति भी हमको करनी पड़ेगी। इस विस्तृत जल-राशि के गर्भ में डुबकियाँ लगाकर जल-लोक एवं पाताल-लोक के निवासियों के वृत्तान्त हमें लाने होंगे। सुन्दर छोटी-छोटी मछलियों से लेकर बड़े-बड़े दीर्घकाय विशाल जलजीवों तक से प्रबल प्रतियोगिता करनी होगी। महोदधि में छिपे हुए रत्नों की प्राप्ति के हेतु हमें उन वीरों का स्मरण करना होगा, जिन्होंने इस धीरोचित प्रयास में अपना सर्वस्व आत्म-समर्पण कर दिया और सदा के लिये विलीन हो गये।

इधर हमें पृथ्वी का आन्तरिक सौन्दर्य्य अनुभव करने के लिये इसके केन्द्र तक पहुँचना होगा। भिन्न-भिन्न प्रकार के दृढ़

प्रस्तरों और कठोर शिलाओं एवं अभेद्य चट्टानों को चकनाचूर करके इस रत्न-गर्भा भूमि का परीक्षण करना होगा। सृष्टि के इस सौन्दर्य का अन्त फिर भी हम न पा सकेंगे ? भीषण काननों के द्रुम, पादप और लताओं की कहानियाँ, सागरों की तरंगों के भयंकर नाद, पर्वतों के शिखरासीन हिम के पत्रालेख और भूमि के आन्तरिक चित्र—ये सब महती सृष्टि के थोड़े से अंश हैं। हमारी प्यारी सृष्टि में अगाध सौन्दर्य है। इसमें किसी को भी सन्देह नहीं हो सकता है।

दूसरा अध्याय

भू-लोक

सम्पूर्ण सृष्टि को सुविधा के लिये तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—भू-लोक, जल-लोक, और आकाश-लोक। इन तीनों लोकों के सौन्दर्य का कुछ दिग्दर्शन अभी कराया जा चुका है। भूगोल से परिचित पाठक भूलोक के विषय में बहुत कुछ जानते हैं। इस बात में भी अब किसी को सन्देह नहीं है कि हमारी यह पृथ्वी गेंद के समान गोल है और इसके ध्रुवों के निकट के भाग कुछ चपटे हो गये हैं। यह भी सबको ज्ञात है कि इस पृथ्वी में दो प्रकार की गतियाँ होती हैं। एक प्रकार की गति से पृथ्वी अपनी कीली पर लट्टू के समान घूमती है और इस प्रकार दिन और रात का दृश्य संघटित होता है। २४ घण्टे में सम्पूर्ण पृथ्वी एक बार अपनी कीली पर घूम जाती है। पृथ्वी का जो भाग सूर्य की ओर होता है, उधर के प्रदेश में दिन होता है और जो भाग सूर्य के दूसरी ओर होता है उधर रात होती है। यदि गेंद को दीपक के सम्मुख रखें तो इस गेंद का जो भाग दीपक की ओर है उधर ही प्रकाश पड़ेगा और इसके पीछे का भाग अँधेरे में रहेगा। अब यदि इस गेंद को घुमा

दिया जाय तो यह अँधेरा भाग प्रकाश की ओर आ जावेगा और उजियारे भाग में अँधेरा छा जायगा। ठीक इसी प्रकार हमारी गोल पृथ्वी में भी दिन और रात होते हैं।

लट्टू नचाने वाले जानते हैं कि बहुधा लट्टू कीली पर सीधा नाचता है। पर हमारी पृथ्वी अपनी कीली पर सीधी नहीं नाचती। पृथ्वी की कीली को अक्ष या धुरी कहते हैं। यह धुरी एक ओर थोड़ी सी झुकी रहती है। इस प्रकार पृथ्वी झुकी हुई धुरी पर नाचती है। यदि धुरी झुकी न होती तो प्रत्येक ऋतु में दिन और रात बराबर होते। पर हम जानते हैं कि हमारे देश में गरमी में दिन बड़ा हो जाता है और रात छोटी हो जाती है। जाड़े में रात बड़ी हो जाती है और दिन छोटा हो जाता है। इस झुके हुए अक्ष के ही कारण ध्रुव प्रदेशों में लगातार छः-छः महीने दिन रहता है और उसके बाद छः-छः महीने बिलकुल अँधेरी रात रहती है। इतनी लम्बी-चौड़ी रातें और इतने लम्बे दिन कितने विचित्र होते होंगे, इसका अनुमान लगाना कठिन है। पर यह इसी कारण है कि हमारी पृथ्वी झुके हुए अक्ष पर घूमती है और इसीलिये इसके सिरे (उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव के प्रदेश) चक्कर पूरा हो जाने पर भी सूर्य के सामने या अँधेरे में छः मास तक रहते हैं। उत्तरी ध्रुव में जब ६ मास का दिन होता है तो दक्षिणी ध्रुव में ६ मास की रात होती है। भूमध्य-रेखा के निकट के प्रान्तों में दिन और रात लगभग बराबर ही होते हैं।

कभी-कभी आपने देखा होगा कि लट्टू अपनी कीली पर

नाचता हुआ टेढ़ी-मेढ़ी इधर-उधर परिक्रमा भी करता है। हमारी पृथ्वी अपने अक्ष पर घूमती हुई भी सूर्य के चारों ओर परिक्रमा लगाती फिरती है। यह इस पृथ्वी की दूसरी प्रकार की गति है। सूर्य के चारों ओर यह एक अण्डवृत्ताकार परिधि में घूमती है। इस अण्डवृत्त की परिधि का दीर्घ व्यास १८ करोड़ ५८ लाख मील लम्बा है। पृथ्वी एक परिक्रमा को ३६५·२५६४ दिनों में पूर्ण कर लेती है, इसीलिये एक वर्ष में ३६५¼ दिन होते हैं। अङ्गरेज़ी कैलेण्डर में वर्ष में ३६५ दिन माने जाते हैं और प्रति चार वर्ष पर फ़रवरी मास में एक दिन बढ़ा दिया जाता है। सन् १९३६ में फ़रवरी २९ दिन की थी और सन् १९४० में फिर फ़रवरी २९ दिन की होगी। सूर्य के चारों ओर परिक्रमा करने के कारण ही ऋतुएँ सङ्घटित होती हैं। गरमी के दिनों में सूर्य की किरणें हमारे प्रदेश पर बिलकुल लम्ब रूप में सीधी पड़ती हैं और जाड़े के दिनों में किरणें टेढ़ी आती हैं। सीधी किरणों में ताप की सामर्थ्य अधिक होती है और टेढ़ी किरणों में कम। इस प्रकार सूर्य के चारों ओर परिक्रमा लगाने से पृथ्वी में तरह-तरह की ऋतुएँ दिखाई पड़ती हैं। भूमध्य रेखा पर बहुधा सूर्य की किरणें सीधी पड़ती हैं, अतः यहाँ सदा ही ग्रीष्म ऋतु रहती है। इस रेखा से उत्तर या दक्षिण की ओर जितना ही हम बढ़ते जायँगे उतनी ही सीधी किरणों की सम्भावना कम होती जायगी। इसीलिये उत्तरी और दक्षिणी हिम-प्रदेशों में गरमी के दिनों में उतनी भी गरमी नहीं पड़ती है जितनी हमारे देश में जाड़े के

दिनों में। हमारे देश का सा जाड़ा इन देशों में सदा ही विद्यमान रहता है। शीतकाल में तो वहाँ इतना जाड़ा पड़ता है कि कभी-कभी तो नदियाँ भी जम कर बरफ़ बन जाती हैं और जहाँ देखिये वहीं बरफ़ के ढेर दिखाई पड़ते हैं।

इस प्रकार पृथ्वी की दोनों प्रकार की गतियाँ बड़े महत्व की हैं। अब हम इस विषय को यहीं छोड़कर भू-लोक के विषय की अन्य उपयोगी वार्त्ताओं पर विचार करेंगे। हमारी सम्पूर्ण पृथ्वी मण्डलों या कोषों के अनुसार निम्न ७ भागों में विभाजित की जा सकती है :—

१—केन्द्रस्थ कोष — Centrosphere
२—धातु कोष — Barysphere
३—उष्म कोष — Pyrosphere
४—शिला कोष — Lithosphere
५—जल कोष — Hydrosphere
६—प्राणि कोष — Biosphere
७—वायुकोष — Atmosphere

पृथ्वी का केन्द्रस्थ कोष किसी अज्ञात दृढ़ पदार्थ का बना हुआ है। पृथ्वी की गहराई इतनी अधिक है कि इसके केन्द्र तक किसी साधन द्वारा भी अभी तक पहुँच नहीं हो सकी है। पृथ्वी के इस केन्द्र की अवस्था का अनुमान लगाना भी सरल नहीं है। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि यह किसी अत्यन्त प्रबल एवं दृढ़ पदार्थ का बना होगा। ऐसा भी वैज्ञानिकों का अनुमान

है कि पृथ्वी के केन्द्र से होता हुआ एक चुम्बक शक्ति से युक्त लम्बाकार प्रस्तर है। इस चुम्बक का उत्तरी ध्रुव हमारी पृथ्वी के दक्षिणी ध्रुव की ओर है और इसका दक्षिणी ध्रुव पृथ्वी के उत्तरी ध्रुव की ओर। यह तो चुम्बकीय शक्ति की बात हुई। अब गुरुत्व-शक्ति के विषय में भी कुछ अनुमान लगाइये। यदि हिमालय के समान भारी पर्वत पृथ्वी के इस केन्द्र पर ले जाकर तोला जाय तो भी भार कुछ न होगा। भार क्या चीज़ है, वस्तुतः यह पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति की माप है। यदि किसी लोहे की गेंद को आप अपनी छत पर से छोड़ें तो वह आँगन में आकर गिर पड़ेगा। यह क्यों है ? इसी-लिये कि पृथ्वी की शक्ति गेंद को अपनी ओर खींच रही है। यह आकर्षण-शक्ति जितनी ही अधिक होगी उतना ही गेंद का भार अधिक होगा। पदार्थ पृथ्वी से जितना ही दूर हटता जायगा, यह आकर्षण शक्ति कम होती जायगी। यदि पर्वत के शिखर पर किसी वस्तु का भार निकाला जाय तो पर्वत के शिखर पर लिया गया भार धरातल पर के भार से बहुत ही कम होगा। पर क्या आप अपनी तराज़ू से इस भार की कमी का अनुभव कर सकते हैं ? मान लीजिये कि आपने धरातल पर अपने तराज़ू और बाटों से सेर भर आलू तौले, और फिर आप इन आलुओं और तराज़ू एवं बाटों को पर्वत के शिखर पर ले गये, और वहाँ तौला। ऐसा करने से तो आपको आलू फिर भी सेर भर ही मिलेंगे। आप कहेंगे कि भार में कुछ भी कमी नहीं हुई है। पर यह ठीक नहीं है,

क्योंकि जब आप पर्वत के शिखर पर गये तो आलुओं का भार तो कम हो ही गया, पर साथ ही साथ आपके बाटों का भी भार कम हो गया है। इसीलिये आपको कमी का कोई भी अनुभव इन तराज़ू और बाटों से नहीं हो सकता है। इस काम के लिये कमानीदार तराज़ू (स्प्रिङ्ग बैलन्स) बनाई गई हैं। इसमें धातु के तारों की सर्पाकार कमानी है और नीचे एक काँटा लगा हुआ है। इस काँटे में एक पलड़ा लगा दिया जाता है। पलड़े पर किसी वस्तु को रखने से कमानी उसके भार के अनुसार खिंच जावेगी और तराज़ू में लगी हुई सुई इस भार को सूचित कर देगी। इसी तराज़ू से हम भार की कमी-बढ़ती का अनुमान लगा सकते हैं।

अस्तु, अभी हमने कहा है कि पृथ्वी से जितनी दूर हम पदार्थ लेते जायँगे उतनी ही पारस्परिक आकर्षण शक्ति कम होती जायगी। पृथ्वी की यह आकर्षण-शक्ति पृथ्वी के केन्द्र पर संचित है। पदार्थ जितने ही इसके केन्द्र से दूर होंगे उतना ही उनका भार कम होता जायगा, और जितने ही इसके निकट होंगे उतना ही भार अधिक होता जायगा। पर जब पदार्थ पृथ्वी के केन्द्र पर पहुँच जायगा तो पृथ्वी और उस पदार्थ के बीच की सम्पूर्ण आकर्षण शक्ति का ही लोप हो जायगा। क्योंकि पदार्थ का केन्द्र पर होने के कारण आकर्षण शक्ति का प्रश्न ही उठाना निर्मूल है। इसीलिये कहा जाता है कि पृथ्वी के केन्द्र पर किसी भी पदार्थ का कोई भार नहीं है। पर यह बात केवल अनुमान

से ही कह सकते हैं, क्योंकि अभी तक पृथ्वी के केन्द्र पर कोई नहीं पहुँच सका है ।

पृथ्वी का दूसरा कोष धातुकोष (barysphere) कहलाता है । पृथ्वी उल्काओं के घनीकरण द्वारा बनी है । इसका विस्तृत उल्लेख आगे किया जावेगा । जब किसी खनिज पदार्थ को गरम करते हैं तो उसकी धातु तो पिघल जाती है और शेष पथरीले पदार्थ वैसे ही ठोस रह जाते है । यदि पिघलाकर खनिज को अब ठंडा होने दिया जाय तो पिघली हुई धातु नीचे जम जावेगी और पथरीले पदार्थ ऊपर रह जावेंगे । यही अवस्था इस पृथ्वी के विषय मे भी है । इसका जन्म उल्काओं से हुआ है । कल्पना कीजिये कि इन उल्काओं में कुछ पथरीला अंश है और कुछ धातु-अंश । धीरे-धीरे ये तप्त उल्का ठंडे पड़ने लगे । ठंडे होने से धातु-अंश तो नीचे रह गया और पथरीला भाग ऊपर आ गया । इसी प्रकार इस पृथ्वी मे केन्द्र कोष-के पश्चात् धातु-कोष है और धातु-कोष के बाद शिला-कोष है ।

धातु और शिलाकोषों के बीच में एक दूसरा कोष है, जिसे उष्मकोष (pyrosphere) कहते हैं । इस कोष में गरम-गरम द्रव के समान पिघले हुए पदार्थ पाये जाते हैं । ज्वालामुखी पर्वतों में से जो गरम-गरम पिघला हुआ गन्धक आदि लावा के रूप में बाहर निकलकर आता है, वह इसी उष्म कोष का पदार्थ है । शिलाकोष (lithosphere) में मुख्यतः भिन्न-

भिन्न पत्थरों की चट्टानों का समावेश है। ये दृढ़ पत्थर इस भूमि का मुख्य अंश हैं। इन शिला-प्रस्तरों की विस्तृत व्याख्या आगे दी जावेगी।

शिलाकोष के पश्चात् जलकोष (hydrosphere) है। यह सभी जानते हैं कि पृथ्वी के धरातल पर भूमि की अपेक्षा जल का भाग अधिक है। बड़े-बड़े महासागर पृथ्वी का तीन चौथाई भाग घेरे हुए हैं। पर यह स्मरण रखना चाहिये कि इन सागरों के नीचे भी ज़मीन है। इन सागरों का वर्णन आगे दिया जावेगा।

जलकोष के पश्चात् प्राणिकोष (biosphere) है। प्राणि-कोष से हमारा तात्पर्य पशु, पक्षियों, मनुष्यों तथा वनस्पति-जगत् से है। इस पृथ्वी के ऊपर विस्तृत जंगल हैं, जिनमें तरह-तरह के पशु विहार करते हुए पाये जाते हैं। पहाड़ों के शिखरों पर भी घने जंगल हैं। इनको भी पृथ्वी का एक कोष समझना चाहिए।

पृथ्वी का अन्तिम कोष वायुकोष (atmosphere) है, जिसे वायुमण्डल या अन्तरिक्ष भी कहते हैं। यह वायुमण्डल पृथ्वी की आकर्षण शक्ति के सहारे स्थिर है। पृथ्वी के घूमने के साथ-साथ यह कोष भी निरन्तर उसी गति से घूमता रहता है। यह कई मील ऊपर तक फैला हुआ है। वायुमण्डल का एक विशेष दबाव होता है, और इसी दबाव के कारण हमारा

जीवन सम्भव हो सका है। यह वायुमण्डल ताप और शीत को हमारे जीवन के अनुकूल बनाये रखता है। यदि यह न होता तो दिन में हम सूर्य्य की गरमी से झुलस कर मर जाते और रात के समय ठंड के मारे हम बिल्कुल गलकर नष्ट हो जाते। इस वायुमण्डल का उल्लेख विस्तारपूर्वक किया जावेगा।

वस्तुतः जिस कोष के ऊपर हम रहते हैं वह शिलाकोष है और साधारणतः इस शिलाकोष तक ही पृथ्वी समझी जाती है। यह कहा जा चुका है कि पृथ्वी गोल है, पर ध्रुवों पर थोड़ी सी चपटी हुई है। इस पृथ्वी का ध्रुवी-व्यास ७८९९·९८४ मील है अर्थात् यदि इसके उत्तरी ध्रुव से एक रेखा पृथ्वी के केन्द्र में होती हुई दक्षिणी ध्रुव तक खींचा जाय तो इसकी लम्बाई सात हज़ार नौ सौ मील के लगभग होगी। यह तो पृथ्वी का उत्तर-दक्षिण या ध्रुवी-व्यास हुआ। अब यदि भूमध्य-रेखा पर पूर्व से पश्चिम तक केन्द्र से होती हुई कोई सीधी रेखा खींचो जाय तो उसकी लम्बाई ७९२६.६७८ मील होगी। इसे पृथ्वी का निरक्षीय व्यास (equatorial diameter) कहते हैं। यह व्यास ध्रुवीय व्यास से २६.५ मील के लगभग अधिक है। इस व्यास का अधिक होना ही यह बताता है कि पृथ्वी ध्रुवों के निकट कुछ चपटी हो गई है। व्यास मालूम हो जाने पर परिधि का अनुमान लगाना कोई कठिन काम नहीं है। गणित वाले विद्यार्थी जानते हैं कि वृत्त के व्यास को ३·१४ से गुणा कर देने से परिधि की लम्बाई

आ जाती है। पृथ्वी की ध्रुवीय परिधि २४८६१'२२ मील है और सम्पूर्ण भूमध्य-रेखा की लम्बाई (निरक्षीय परिधि) २४८८९ मील के लगभग है।

पृथ्वी का सम्पूर्ण पृष्ठतल १९६९४०००० वर्गमील है। इसमें १३७०००००० वर्गमील अर्थात् ६९'६ प्रतिशतक पानी है और शेष ५९८७०००० वर्गमील अर्थात् ३०'४ प्रतिशतक ज़मीन है।

सम्पूर्ण पृथ्वी दो भागों में विभक्त है। एक तो उत्तरी गोलार्ध जिसका अधिकांश भाग भूमि है। भूमध्य रेखा के उत्तर की ओर स्थित पृथ्वी के भाग को उत्तरी गोलार्ध कहते हैं। उत्तरी गोलार्ध में समुद्र-तल से ऊपर ४१११२००० वर्गमील के लगभग भूमि है। दक्षिणी गोलार्ध मे अधिकांश भाग जल है, अतः इस भाग को मुख्यतः पृथ्वी का जलकोष कह सकते हैं। इस कोष में समुद्र-तल से ऊपर केवल १६१४२००० वर्गमील के लगभग भूमि है।

सम्पूर्ण पृथ्वी का पृष्ठ सर्वत्र समतल नहीं है। कहीं-कहीं तो ऊँचे-ऊँचे पर्वत हज़ारों मील तक चले गये है और कहीं कहीं मैदान हैं। इन पर्वतों एवं मैदानों की ऊँचाई समुद्र के जल-पृष्ठ से नापी जाती है। नीचे की सारिणी में इस बात का विवरण दिया जाता है कि पृथ्वी का कितना प्रतिशतक भाग समुद्र-तल से कितनी ऊँचाई पर है:—

ऊँचाई	प्रतिशत	
हिमालय की सब से ऊँची चोटी एवरेस्ट है जो समुद्र-पृष्ठ से २९००० फुट ऊँची है।		
समुद्र-पृष्ठ से ६००० फुट से अधिक ऊपर	२.२	सम्पूर्ण ३०.४२ भूमि भाग
समुद्र-पृष्ठ और ६००० फुट ऊँचाई के बीच में।	२८.१%	

यह कहा जा चुका है कि पृथ्वी का भूमि-भाग ३०.४१ प्रतिशतक है और शेष ६९.६ प्रति शतक जल-भाग है। इस जल-भाग के नीचे भी ज़मीन है। इसकी गहराई भी समुद्र के पृष्ठ-तल से नापी जाती है। नीचे की सारिणी से समुद्रों की गहराई का कुछ अनुमान हो सकता है :—

गहराई	प्रतिशत
समुद्र-पृष्ठ से ६०० फुट नीचे तक	५.१%
समुद्र-पृष्ठ के ६०० फुट से ६००० फुट नीचे तक	७.०%

समुद्र-पृष्ठ के ६००० फुट से १२००० फुट नीचे तक	१४·८%	
समुद्र-पृष्ठ के १२००० फुट से १८००० फुट नीचे तक	३९·६%	
समुद्र-पृष्ठ के १८००० फुट से २४००० फुट नीचे तक	३·१%	सम्पूर्ण ६९·६% जल विभाग
ग्वाम के निकट समुद्र की सब से अधिक गहराई ३१६०० फुट है ।		

महासागरों का अधिक उल्लेख आगे के किसी अध्याय में किया जावेगा। संपूर्ण भूलोक को ६ भौगोलिक विभागों में विभाजित किया गया है—१ यूरेशिया, जिसमें यूरोप और एशिया सम्मिलित हैं। २ अफ्रिका, ३ उत्तर अमरीका, ४ दक्षिण अमरीका, ५ ओशनिका, जिसमें आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड, फ़ीजी द्वीप आदि सम्मिलित हैं, और ६ एण्टार्टिका, जिसमें दक्षिणी शीत कटिबन्ध के ध्रुवीय प्रदेश सम्मिलित हैं। भूगोल से परिचित पाठक इन प्रदेशों के विषय में बहुत कुछ जानते होंगे। महाद्वीपों के नाम से भूमि का विभाग बहुधा इस प्रकार किया जाता है—एशिया, यूरोप, अफ्रीका, उत्तरी अमरीका, दक्षिणी अमरीका और आस्ट्रेलिया। इन महाद्वीपों के निकट अन्य बहुत से छोटे-छोटे द्वीप हैं। महाद्वीपों का क्षेत्रफल और समुद्र-तल से औसत ऊँचाई नीचे दी जाती है :—

महाद्वीप	औसत ऊँचाई		क्षेत्रफल	
एशिया	३३००	फुट	१६४००००००	वर्गमील
यूरोप	१०३०	,,	३५००००००	,,
अफ्रीका	२१००	,,	११००००००	,,
उत्तरी अमरीका	२१००	,,	५६००००००	,,
दक्षिणी अमरीका	२१००	,,	६८००००००	,,

कुछ विद्वानों की सम्मति में ये महाद्वीप और महासागर भूलोक की स्थायी सम्पत्ति हैं। उनका कहना है कि सृष्टि के इतिहास में ऐसा कोई समय प्रतीत नहीं होता है कि जिस स्थान में आजकल महाद्वीप हैं, उस स्थान में पूर्व किसी समय में महासागर रहे हों। उनके अनुसार यह कहना भी भ्रम है कि जिस स्थान में आजकल महासागर हैं वहाँ पहले कभी भूमि थी। सृष्टि के आरम्भ से आज तक महासागर और महाद्वीप अधिकांशतः अपने स्थान पर अचल हैं। यह संभव है कि छोटे-छोटे द्वीप किसी समय जल में विलीन हो गये हों या कहीं पर छिछले समुद्रों का जल हट गया हो और नया भूमि-भाग निकल आया हो, पर बड़े-बड़े महासागरों और महाद्वीपों के लिये ऐसी कल्पना करना ठीक नहीं है। यद्यपि पहले भूगर्भ-वेत्ताओं का ऐसा विचार अवश्य था। सर चार्ल्स लायल नामक

प्रसिद्ध व्यक्ति का भी यही विचार था कि जहाँ पर आजकल समुद्र है वहाँ पहले किसी समय ज़मीन थी, पर जेम्स ड्वाइट डाना (१८१३—१८९५) ने इस बात को भली भाँति प्रदर्शित कर दिया है कि पृथ्वी के आदि-काल से अब तक जल प्रदेश का थल-प्रदेश में और थल-प्रदेश का जल-प्रदेश में पूर्णतः परिवर्तन कभी नहीं हुआ है।

जल और थल प्रदेश के विषय में एक बात और जानने योग्य है। सागर प्रति दिवस गहरे होते जा रहे हैं। साथ-साथ यह भी बात है कि समुद्रों की तह अत्यन्त दृढ़ प्रस्तरों से बनी हुई है, जिनके टूटने या घिसने की कोई सम्भावना नहीं है, अतः समुद्र के अधिक गहरे होते जाने का अर्थ यह है कि प्रति दिवस इनका पानी ऊपर बढ़ता आ रहा है। पानी के ऊपर बढ़ने का प्रभाव स्थल प्रान्त पर पड़ता है और जो प्रदेश समुद्र से बहुत ऊँचाई पर नहीं है, वे कालान्तर में डूबते जाते हैं। भारतवर्ष के दक्षिणी तट पर लङ्का नाम का एक प्रसिद्ध द्वीप है। इस द्वीप की परिस्थिति का निरीक्षण करने से पता चलता है कि यहाँ की जलवायु, पशुपक्षी, एवं खनिज आदि दक्षिणी भारत के समान ही हैं। अतः भूगर्भवेत्ताओं का यह विचार है कि यह द्वीप किसी समय में दक्षिणी भारत से मिला हुआ था और समुद्र के बढ़ने के कारण बाद को इसका कुछ नीचा भाग जल में विलीन हो गया। यही अवस्था जावा, सुमात्रा, बोर्नियो आदि द्वीपों की हुई। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि ये सब द्वीप किसी समय

एशिया के महाद्वीप से बिलकुल मिले हुए थे। इसी प्रकार अफ्रीका के पूर्वी तट पर मैडागास्कर आदि कई द्वीप ऐसे हैं, जो पहले अफ्रीका से मिले हुए थे, पर अब अलग हो गये हैं।

भूगर्भवेत्ताओं का यह भी अनुमान है कि दक्षिणी अमरीका में स्थित ब्रेज़िल प्रदेश उत्तर पश्चिमी अफ्रीका से जुड़ा हुआ था और जहाँ पर आजकल गहरा अटलाण्टिक महासागर है वहाँ पहले एक महाद्वीप था जिसका नाम गोंडवाना रखा गया है। इसी प्रकार पूर्वकाल में अफ्रीका भी भारतवर्ष से संयुक्त था। तात्पर्य यह है कि एक काल वह था, जब दक्षिणी अमरीका, अफ्रीका और भारतवर्ष मिले हुए थे।

जो कुछ ऊपर कहा गया है उसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि महासागरों और महाद्वीपों में कभी पूर्णतः परिवर्त्तन नहीं हुआ है, पर समुद्र के उत्तरोत्तर बढ़ने (अधिक गहरे होने) के कारण बहुत से प्रान्त जो किसी समय में स्थल थे, आजकल समुद्र के गर्भ में विलुप्त हो गये हैं।

तीसरा अध्याय

जल-लोक

सम्पूर्ण पृथ्वी को हम उत्तरी गोलार्ध और दक्षिणी गोलार्ध में बाँट सकते हैं। उत्तरी गोलार्ध का अधिकांश स्थल है, पर दक्षिणी गोलार्ध में स्थल की अपेक्षा जल का भाग कहीं अधिक है। यह जल इस सृष्टि की एक परमोपयोगी वस्तु है और यह कई रूप में पाया जाता है।

हम प्रति दिन जल का व्यवहार करते हैं। भोजन के पचाने में एवं शरीर को शुद्ध और स्वस्थ रखने में यह हमारे काम में आता है। जल के तीन मुख्य रूप हैं। जिस जल को हम पीते हैं, या जो जल नदियों और समुद्रों में है वह बहने वाला पदार्थ है। उसको आप एक बर्तन से दूसरे बर्तन में उँडेल सकते हैं। उसको बूँद-बूँद करके टपका सकते हैं। जल ढाल पाकर बहने लगता है, इसीलिये सड़कों की नालियाँ ढाल देकर बनाई जाती हैं। मकानों के आँगनों में भी ढाल दिया जाता है, जिससे कि पानी सम्पूर्ण आँगन में जमा न हो जाय, प्रत्युत बहकर नाली से निकल जाय। ढाल पाकर बह निकलना पानी का मुख्य गुण है। इस प्रकार के जल को द्रव-जल कहते हैं।

जल का एक दूसरा रूप भी आपने देखा होगा। गरमी के दिनों में शर्बत बनाने और पानी को ठंडा करने के लिये बर्फ़ का उपयोग किया जाता है। यह बर्फ भी पानी से ही बनाई जाती है। इस बर्फ में पानी के समान बहने का गुण नहीं है। पानी को जिस बर्तन में रखियेगा वह उसी का रूप धारण कर लेगा। लोटे में पानी का रूप लोटे का-सा हो जायगा और गिलास में गिलास का-सा, पर बर्फ़ में यह बात नहीं है। बर्फ़ का टुकड़ा यदि गलकर पानी न बन जाय तो इसका रूप प्रत्येक बर्तन में एक सा ही रहेगा। पानी के टुकड़े नहीं किये जा सकते हैं, पर बर्फ को आप तोड़ सकते हैं। पानी की बूँदें टपकाई जा सकती हैं, पर बर्फ की बूँदें नहीं होती हैं। यह बर्फ पानी ही का दूसरा रूप है। बर्फ के गल जाने पर पानी ही शेष रहता है। पानी को शीघ्र ठंडा करके बर्फ में परिणत कर सकते हैं। जल के इस दूसरे रूप को ठोस जल कहते हैं।

गरमियों में छोटे-छोटे तालाब और नदियाँ सूख जाती हैं। बड़ी नदियों में भी पानी कम रह जाता है। भीगे हुए कपड़े धूप में फैलाने पर सूख जाते हैं। इन सब पदार्थों का जल गरमी पाकर कहाँ चला जाता है? वस्तुतः यह जल नष्ट नहीं हो जाता, यह दूसरा रूप धारण कर लेता है। यह भाप बन कर उड़ जाता है। भाप को हम देख नहीं सकते हैं। पतीली में पानी गरम करने से भी भाप बनती है। इस भाप को ठण्डा करने से पानी फिर मिलता है। भाप हवा से हलकी होती

हैं, अतः हवा में ऊपर उठने लगती है। यह भाप पानी का तीसरा रूप है। इसे वायव्य जल कहते हैं।

जाड़े के दिनों में कोहरा छाया रहता है। प्रातःकाल और सायंकाल के समय तथा रात में जब ठंडक अधिक पड़ती है, वायुमंडल में भाप के अदृष्ट कण ठंडे होकर ठोस जल में परिवर्तित होते रहते हैं। ठोस जल के ये कण ही कोहरा कहलाते हैं। इसी प्रकार ओला भी ठोस जल है।

हमारे देश में जाड़े के दिनों में जल का तापक्रम बहुधा १०° श से २१° श तक रहता है और गर्मी में २५° श से ३५° शतांश तक इसका तापक्रम हो जाता है। ठंडे प्रदेशों में शीत-काल में वायु मण्डल का तापक्रम ० से १०° श तक कम हो जाता है और ऐसी अवस्था में जहाँ जाड़े की ऋतु में सर्वत्र बर्फ जम जाती है, बर्फ का तापक्रम ०° श माना जाता है।

पानी प्रत्येक तापक्रम पर ही कुछ न कुछ भाप बन कर उड़ा करता है। पतीली का पानी १००° श तापक्रम पर उबलने लगता है और उबलने के पश्चात् ही भाप बनकर उड़ता है, पर तालाब और नदियों को जो गरमी के दिनों में सूख जाते हैं हमने कभी उबलते हुए नहीं देखा। इनके पानी का तापक्रम ३०°—४०° श से ऊपर तो शायद ही कभी जाता होगा। अतः यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि पानी प्रत्येक तापक्रम पर भाप बनता रहता है।

पानी का उबलना वायुमण्डल के दबाव पर निर्भर है। वायुमण्डल का दबाव प्रत्येक स्थान पर भिन्न-भिन्न होता है। पृथ्वी के निकट वायुमण्डल का दबाव अधिक होता है और हम ज्यों-ज्यों ऊँचे किसी पर्वत पर चढ़ते जायँगे, यह दबाव कम होता जायगा। भूमण्डल पर पानी १००° श का ताप देने पर उबलता है, तो ऊँचे पर्वतों पर यह ८०° श पर ही उबलने लगेगा।

पृथ्वी के इस जल-लोक में जल के उपर्युक्त तीन रूपों का विशेष महत्व है। सागरों का द्रव जल सब ऋतुओं में और ग्रीष्म ऋतु में विशेषतः भाप बन कर आकाश में ऊपर चढ़ जाता है। यह भाप ऊपर सर्वत्र फैल जाती है। ज्यों-ज्यों भाप ऊपर चढ़ती जाती है, ठण्डी होती जाती है। एक विशेष अवस्था तक ठण्डी होने पर भाप के कण द्रव जल की बूँदों में परिवर्तित होने लगते हैं। यह द्रव बूँदें और भाप का मिश्रण ही बादल कहलाते हैं। भाप स्वयं अदृष्य है, अतः आकाश के काले-काले बादलों को केवल भाप न समझना चाहिये। प्रत्युत द्रव जल की बूँदें हैं जो शेष भाप के सहारे आकाश में भ्रमण कर रही हैं। यह भाप और जल का मिश्रण अधिक ठण्डा होने पर पूर्णतः द्रव जल बन जाता है और मूसलाधार पानी के रूप में बरसने लगता है। यदि यह पानी कहीं और भी अधिक ठण्डा हो गया तो श्वेत ओलों की वर्षा होने लगती है।

इस प्रकार सागरों का द्रव जल नित्य-प्रति बादल बनकर उड़ने लगता है और ये बादल फिर द्रव जल में परिवर्तित होकर

हमारी भूमि पर बरसते हैं। पानी के ठोस रूप बरफ़ से भी हमें नित्य काम पड़ता है। जाड़े के दिनों में पर्वतों पर बर्फ़ जमा हो जाती है और गरमी के दिनों में यह पिघलने लगती है। जितनी बड़ी-बड़ी नदियाँ इन हिमाच्छादित पर्वतों से निकलती हैं, वे गरमी के दिनों में भी सूखने नहीं पातीं। शीत ऋतु में जमी हुई बरफ़ गरमी में पिघल-पिघल कर गंगा-यमुना ऐसी नदियों को पानी प्रदान करती है।

पानी का मुख्य गुण बहना है। यह बहना दो कारणों से होता है। पहला कारण ढाल है। पानी जिधर को ढाल पाता है उधर ही बह निकलता है। गंगा, यमुना, गोमती, सरयू आदि संयुक्त प्रान्त की नदियाँ उत्तर-पश्चिम से निकल कर कुछ दक्षिण की ओर चलती हैं और फिर पूर्व की ओर बहने लगती हैं। इससे मालूम होता है कि संयुक्त प्रान्त और बिहार के प्रदेश का ढाल पूर्व की ओर को है। पंजाब की नदियाँ पहले तो कुछ उत्तर-पश्चिम को बहती हैं और फिर दक्षिण-पश्चिम दिशा में मुड़ जाती हैं। उनके इस बहाव से उस प्रान्त के ढाल का कुछ अनुमान हो सकता है।

समुद्र में धाराएँ बहा करती हैं। इनके बहने का मुख्य कारण ढाल नहीं होता है। इस कारण को समझने के लिये हमें एक दूसरे दृश्य पर ध्यान देना होगा। सब लोग यह जानते हैं कि गरम करने पर प्रत्येक पदार्थों में वृद्धि हो जाती है। इसी प्रकार पानी भी गरम करने पर आयतन में बढ़ जाता है। आयतन बढ़

जाने का अर्थ यह है कि गरम पानी ठंडे पानी की अपेक्षा घनत्व में हलका पड़ जाता है। यह भी सब जानते हैं कि हलकी वस्तु भारी वस्तु पर तैरती है। लकड़ी पानी से हलकी होती है, अतः यह पानी पर तैर सकती है। तैल भी पानी पर हलके होने के कारण तैरता है। इसी प्रकार यदि गरम पानी और ठंडा पानी लिया जाय तो गरम पानी की सतह ठंडे पानी की सतह के ऊपर जाने का यत्न करेगी और ठंडे पानी की सतह गरम पानी के नीचे आ जावेगी।

एक गिलास में ठण्डा पानी लीजिये और इसकी पेंदी को एक सिरे पर गरम कीजिये। गरम करने पर पेंदी के पास का पानी गरम हो जावेगा और गरम हो जाने के कारण यह हलका पड़ जावेगा। हल्का गरम पानी भारी ठण्डे पानी के ऊपर उठने लगेगा और दूसरे सिर पर ठण्डा पानी नीचे पेंदी की ओर बहने लगेगा। जब तक सब पानी एकसा गरम न हो जायगा, ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर बहने की यह प्रक्रिया होती रहेगी।

समुद्र की धाराओं के बहने का भी यही कारण है। भूमध्य रेखा के निकट के समुद्र प्रत्येक ऋतु में ही अधिक ताप पाते हैं और उत्तरी तथा दक्षिणी कटिबन्ध के समुद्रों का जल ठण्डा रहता है। अतः भूमध्य-रेखा के निकट के समुद्रों का जल गरम हो जाने के कारण हलका पड़ जाता है और यह उत्तर और दक्षिण की ओर गरम धाराओं के रूप में बहने लगता है। इसी समय उत्तर और दक्षिण के शीत कटिबन्धों का ठण्डा जल इस गरम जल के रिक्त

स्थान की पूर्ति के लिये उत्तर और दक्षिण से भूमध्यरेखा की ओर ठण्डी धाराओं के रूप में जाने लगता है। इस प्रकार ताप-क्रम के भेद के कारण समुद्रों में गरम और ठण्डी धाराओं का जन्म होता है। गरम धाराएँ जिन शीत-प्रधान देशों के समीप बहने लगती हैं, वहाँ की जल-वायु को कुछ गरम बना देती हैं। इसी प्रकार शीत धाराएँ निकटस्थ के गरम प्रदेशों को कुछ ठण्डा कर देती हैं। इस गुण के कारण इन धाराओं का विशेष महत्व है।

समुद्र के जल में धाराओं की गति के अतिरिक्त दो प्रकार की और भी गतियाँ होती हैं। जिस समय किसी शान्त तालाब या नदी के अन्दर एक छोटा सा कङ्कड़ डाला जाता है, उसी समय जल में वृत्ताकार तरङ्गें उठने लगती हैं। जिस स्थान पर कङ्कड़ गिरा था, वह स्थान इन वृत्तों का केन्द्र हो जाता है; इन वृतों का व्यास बढ़ता ही जाता है और यह तरङ्गें तालाब के किनारे तक पहुँच जाती हैं। जिस समय इस प्रकार की तरङ्गें उठ रही हों उस समय देखने में ऐसा प्रतीत होता है कि तालाब का सम्पूर्ण जल किनारे की ओर हटता जा रहा है। पर वास्तविक बात यह है कि सम्पूर्ण जल अपनी पहली जगह पर ही ऊपर-नीचे हिल रहा है और केवल गति-उत्पादक सामर्थ्य (energy) ही किनारे को ओर जा रही है। इस प्रकार की गति को तरङ्ग कहते हैं। प्रचंड वायु के प्रवाह से समुद्र का जल नित्य-प्रति विक्षुब्ध होता रहता है। इसके अतिरिक्त

जल-जीवों की किलोलें भी इस प्रकार विक्षोभ उत्पन्न करती हैं। इन सब का फल यह होता है कि समुद्र में सर्वदा तरङ्गें उठा करती हैं। जब कई जगहों पर एक साथ ही विक्षोभ होता है तो कई स्थानों से उत्पन्न तरङ्गें परस्पर मिश्रित होकर अनेक रूप धारण कर लेती हैं और इनसे कभी-कभी इस प्रकार के भयङ्कर चक्र पैदा हो जाते हैं जिन्हें भँवर कहते हैं। पूर्व काल में जहाज़ और नाव इन भँवरों में पड़ कर डूब जाते थे, पर आजकल वाष्प-जहाज़ों को इन भँवरों का अधिक भय नहीं रह गया है।

सागरों के जल की तीसरे प्रकार की गति का नाम ज्वार-भाटा है। भूगोल से परिचित पाठक इनकी उत्पत्ति का कारण भली प्रकार जानते हैं। हमारी पृथ्वी के चारों ओर चन्द्रमा भ्रमण करता रहता है। चन्द्रमा अपनी आकर्षण शक्ति द्वारा पृथ्वी के पदार्थों को अपनी ओर खींचता है। पृथ्वी के दृढ़ स्थलों पर इस आकर्षण का कम प्रभाव होता है, पर जल-भाग पर यह प्रभाव विशेष रूप से पड़ता है। इसी आकर्षण के कारण चन्द्रमा की ओर जल का उत्थान होने लगता है। पृथ्वी के अन्य आधे भाग का जल जहाँ इस समय चन्द्रमा का उदय नहीं है, पृथ्वी के इस भाग में खिंच आता है। इस प्रकार वहाँ के जल में पतन होने लगता है। पृथ्वी के जल का इस प्रकार ६—१२ घण्टे तक उत्तरोत्तर उत्थान या पतन होता रहता है। इस गति को ज्वारभाटा कहते हैं।

इस प्रकार हमने अब तक जल सम्बन्धी साधारण आवश्यक बातों का उल्लेख किया है। बहुत से लोगों का संभवतः ऐसा

विचार हो कि सृष्टि के आरम्भ में सर्वत्र जल ही जल था और धीरे-धीरे उस जल में से थल-भाग का जन्म हुआ। पर वास्तविक बात इसकी उलटी ही है।

इसमें सन्देह नहीं कि सृष्टि के आरम्भ से ही कुछ न कुछ जल पृथ्वी के पृष्ठ-तल पर विद्यमान था, पर पृथ्वी के पृष्ठ पर आदि अवस्था में उतना जल नहीं था जितना इस समय है। धीरे-धीरे ज्वालामुखी पर्वतों एवं तप्त झरनों और स्रोतों द्वारा पृथ्वी के थल-भाग के अन्दर भिदा हुआ जल बाहर निकलना आरम्भ हुआ और समुद्रों के आकार बढ़ने लगे। स्वेस नामक भूगर्भ-वेत्ता का कहना है कि पृथ्वी ने अपने शरीर में से सागरों को जन्म दिया है। अतः यह न समझना चाहिये कि पृथ्वी के आरम्भ में सर्वत्र जल ही जल था और कालान्तर में कुछ जल पृथ्वी के अन्दर भिद गया, और थल भाग निकल आये।

पृथ्वी के सम्पूर्ण जल-कोप को कई भागों में विभक्त किया जा सकता है—

१—महासागर—(oceans.)

२—भूमध्य सागर—(mediterraneans.)

३—तटस्थ सागर—(epicontinental seas.)

४—आन्तरिक सागर—(epeiric seas.)

इसी पृथ्वी पर पाँच महासागर हैं—हिन्द महासागर, शान्त-महासागर (पैसिफ़िक महासागर), एटलाण्टिक महासागर, उत्तरी (या आर्कटिक) महासागर, दक्षिणी (या एण्टार्टिक)

महासागर। शान्त महासागर इन सब महासागरों का पिता है, क्योंकि यह सब से पुराना और सब से बड़ा है। दक्षिणी महासागर भी बहुत बड़ा है। दक्षिणी और शान्त महासागर ही सब से अधिक गहरे हैं, यद्यपि एटलाण्टिक और हिन्द महासागर भी बहुत पुराने हैं, फिर भी उनका आधुनिक रूप अन्य महासागरों की अपेक्षा नया ही है। उत्तरी महासागर यद्यपि प्राचीन अवश्य है, पर यह अन्य महासागरों की अपेक्षा अधिक उथला है।

भूमध्यसागरों को भी महासागरों के समान ही समझना चाहिये, क्योंकि ये भी बहुत बड़े और उनके समान ही बहुत गहरे हैं। भूमध्यसागर उन सागरों को कहते हैं जो कई महाद्वीपों के बीच में घिरे हुए हैं। यूरोप के दक्षिण और अफ्रीका के उत्तर तथा एशिया माइनर के पश्चिम में घिरा हुआ एक इसी प्रकार का भूमध्य सागर है। यह बहुत प्रसिद्ध है। इसे रोमन भूमध्यसागर भी कहा जाता है, क्योंकि इसके तटस्थ देश किसी समय रोम राज्य के आधीन थे। इसी प्रकार उत्तरी और दक्षिणी अमरीका तथा इनके पूर्व के द्वीपों के बीच में घिरे हुए समुद्र को भी अमरीकन भूमध्यसागर कहते हैं। उत्तरी महासागर को भी भूमध्यसागर समझा जा सकता है, क्योंकि यह यूरेशिया और उत्तरी अमरीका के बीच में घिरा हुआ है।

महाद्वीपों के तट के निकट बहुत से छोटे-छोटे समुद्र हैं, जो कम गहरे हैं। इन्हें तटस्थ सागर कहा जाता है। चीन सागर,

जापान सागर, ओखोट्स्क सागर, बङ्गाल की खाड़ी, अरब का सागर आदि इसी प्रकार के तटस्थ सागर हैं।

इनके अतिरिक्त बहुत से छोटे-छोटे समुद्र ऐसे हैं, जो महाद्वीपों के स्थल प्रदेश का ही भाग कहे जा सकते हैं। ये बहुत कम गहरे हैं। इन्हें आन्तरिक सागर कहते हैं। कच की खाड़ी, हडसन या लारेन्स की खाड़ी इसी प्रकार के आन्तरिक सागरों में हैं।

मरे नामक भूगोलवेत्ता के कथन के अनुसार पृथ्वी के सम्पूर्ण जल-प्रदेश का क्षेत्रफल १३९२९५००० वर्गमील है। गहराई के हिसाब से क्षेत्रफल का विवरण इस प्रकार है।

गहराई फुटों में	क्षेत्रफल वर्गमीलों में	प्रतिशत
०—६००	९७५००६५	७·०
६००—३०००	६९६४७५०	५·०
३०००—६०००	५०१०१८५	३·६
६०००—१२०००	२६९१५०००	१९·३
१२०००—१८०००	८१३८१०००	५८·४५
१८०००—२४०००	९०५८०००	६·५
२४०००—३१६१४	२१६०००	०·१५
	१३९२९५०००	१००·००

इस सारिणी से पता चलता है कि सागरों का अधिकांश भाग ६००० फुट से भी अधिक और ६५ प्रतिशत के लगभग तो १२००० फुट से अधिक गहरा है।

समुद्र का जल हमारे कुओं की अपेक्षा बहुत खारी होता है। इसमें नमक की समुचित मात्रा विद्यमान है। यदि सागरों का क्षेत्रफल १४ करोड़ वर्गमील के लगभग (ऊपर की सारिणी के अनुसार) मान लिया जाय और समुद्रों की औसत गहराई १२ हज़ार फुट यानी २·४ मील मानो जाय तो समुद्र के सम्पूर्ण जल का आयतन [(१४ × २·४) =] ३३·६ करोड़ घनमील मानना होगा। समुद्र के जल में १ प्रति शतक से लेकर ५ प्रति शतक के लगभग तक नमक होता है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि नमक की औसत ३·५ प्रति शतक है अर्थात् यदि १०० सेर समुद्र का पानी गरम करके वाष्पीभूत किया जाय तो उसमें साढ़े तीन सेर नमक मिलेगा। अभी हम कह चुके हैं कि समुद्र के जल का आयतन ३३·६ करोड़ घनमील है। इतने जल में यह अनुमान किया जाता है कि लगभग ४८००००० वर्ग मील नमक होगा। इसका अर्थ यह है कि यदि सब समुद्र सुखा दिये जायँ और उनका नमक लगभग २२०० मील लम्बी और २२०० मील चौड़ी भूमि में बिछा दिया जाय तो नमक की १ मील मोटी तह मिलेगी। जिस प्रगति से प्रति वर्ष नमक की मात्रा समुद्र में बढ़ रही है उससे यह अनुमान किया जा सकता है कि समुद्र में इतना नमक आठ या नौ करोड़ वर्षों में इकट्ठा हुआ होगा।

नमक के अतिरिक्त समुद्र के पानी में ओपजन और कर्बनद्विओपिद वायव्य भी घुले हुए हैं।

समुद्र के जल के अन्दर वनस्पति और प्राणियों का जीवन कुछ सीमा तक ही सम्भव है। प्राणियों को अपने शरीर-निर्माण के लिये कर्बन, ओपजन, नोपजन, उदजन और स्फुर तत्त्वों की आवश्यकता पड़ती है। यह कहा जा चुका है कि समुद्र के जल में कर्बनद्विओपिद वायव्य और हवा घुली रहती है। हवा में ओपजन और नोपजन दोनों होते है। इसके अतिरिक्त जल में बहुत से लवण, जिनमें स्फुर भी होता है, घुले हुए पाये जाते हैं। इस प्रकार प्राणियों की सम्पूर्ण आवश्यकतायें कुछ न कुछ मात्रा में जल में अवश्य विद्यमान रहती हैं। पर पौधों और प्राणियों के जीवन के लिये एक और भी अधिक आवश्यक पदार्थ या सामर्थ्य है जिसे प्रकाश कहते हैं। यदि प्रकाश न हो तो उपर्युक्त सब तत्त्वों के होते हुए भी शरीर-निर्माण न हो सकेगा। अब यह देखना चाहिये कि समुद्र में किस गहराई तक प्रकाश पहुँच सकता है। उष्णकटिबन्ध के प्रदेशों में जहाँ सूर्य्य की किरणें सीधी पड़ती हैं १५०—२०० फ़ुट नीची गहराई तक की ज़मीन आँखों से साफ़ दिखाई पड़ सकती है, पर ६७ उत्तर की ओर सूरय की किरणें तिरछी पड़ने के कारण केवल ८० फ़ुट की गहराई की ज़मीन ही साफ़ दिखाई पड़ेगी। पर फ़ोटोग्राफी के प्लेटों (चित्र लेने के पटों) द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि ३२५० फ़ुट नीचे तक प्रकाश का कुछ भाग अवश्य

पानी के अन्दर प्रविष्ट हो जाता है और ३२१ फुट तक तो साधारण प्रकाश का सम्पूर्ण भाग प्रविष्ट हो जाता है। ऐसा अनुमान किया गया है कि ५०० फुट गहराई तक प्रकाश का इतना अंश अवश्य पानी के अन्दर प्रविष्ट हो जाता है, जहाँ पौधे जीवित रह सकें। अतः यह स्पष्ट है कि ५०० फुट नीचे तक ही पौधे पाये जा सकते हैं। पर मछलियों के समान जलचरों के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वे ५०० फुट नीचे तक ही रहें।

सर जॉन मरे ने इन जल-जीवों का विस्तृत विवरण दिया है। हज़ारों प्रकार के जलचर समुद्रों में पाये गये हैं। उनके विवरण के अनुसार नीचे यह दिया गया है कि कितनी गहराई तक कितने जल-जीव पाये जाते हैं।

गहराई	जलचरों की जातियों की संख्या
६५० फुट	५००० से अधिक जातियाँ
६५०० फुट	६०० के लगभग जातियाँ
१३००० फुट	४०० " " "
१६२५० फुट	१५० " " "

समुद्र की तलैटी में ज़मीन है, उसका भी कुछ वृत्तान्त जान लेना अनुचित न होगा। समुद्र-तट पर गहराई कम होती है

और ज्यों-ज्यों समुद्र-तट से दूर हटते जाते हैं, गहराई अधिक होती जाती है। ६०० फुट गहराई तक का भाग समुद्र का तटस्थ भाग (continental edge) कहा जाता है। इसका कारण यह है कि समुद्र की तूफानी तरङ्गों का प्रभाव ६०० फुट से अधिक गहरी तलैटी पर कुछ भी नहीं पड़ता है। ६०० फुट तक के गहरे समुद्र के पानी में कीचड़ और धूल के कण बिखरे होते हैं। इस गहराई की तलैटी में कीचड़ विशेष रूप से होता है, पर इससे अधिक गहराई में हरे, नीले और लाल रङ्ग की सूक्ष्म रेणुका पायी जाती हैं और अधिक गहराई की तलैटी में जल-जीवों द्वारा त्यक्त विष्ठा पाया जाता है और पौधों के अवशेष तथा जीवों के अस्थिपिञ्जर भी पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त महाद्वीपों के तटों पर कहीं-कहीं ज्वालामुखी पर्वत भी होते हैं। इनकी ज्वालाओं में से निकले हुए अनेक पदार्थ उड़कर समुद्र में जा गिरते हैं। ये भी समुद्र की तलैटी में पाये जाते हैं।

१६००० फुट से अधिक गहरे समुद्रों की तलैटी में लाल कीचड़ पाया जाता है। इस कीचड़ में लोहे के परमाणु मिले रहते हैं, इसीलिये यह लाल दिखाई देता है।

अब हम छोटे-छोटे समुद्रों के विषय में थोड़ा-सा उल्लेख और करके जललोक का वर्णन समाप्त करेंगे। ये तटस्थ और आन्तरिक समुद्र पृथ्वी के सम्पूर्ण पृष्ठ-तल का ५·१ प्रतिशत भाग अर्थात् १०००००००० वर्गमील का क्षेत्रफल घेरे हुए हैं। इनकी तलै-टी तक सूर्य का प्रकाश पूर्णतः पहुँच जाता है, अतः इनमें जल-पौधे

समुचित मात्रा में होते हैं, जिन पर अनेक जलचर अपना जीवन निर्भर करते हैं। ये मुख्यतः महाद्वीपों के तट पर स्थित हैं, अतः नदियों द्वारा इनमें स्थल-भाग का जल आकर गिरा करता है और इसलिये स्थल के अनेक प्रकार के पदार्थ भी इनमें पाये जाते हैं।

समुद्रों को उनकी गहराई और तलैटी के स्वभाव के अनुसार कई भागों में विभाजित किया जा सकता है। समुद्र का एक भाग तट (Strand) कहलाता है। ज्वार-भाटाओं का वर्णन पहले किया जा चुका है। जिस समय ज्वार-भाटा का उत्थान होता है, यह तट पानी से भर जाता है पर ज्वार-भाटा के पतन होने पर तट खाली हो जाता है। यहाँ की भूमि में तरह-तरह के पदार्थ होते हैं, जो जल-तरङ्गों के निरन्तर प्रहार के कारण सूक्ष्म रेणुका के रूप में परिणत हो जाते हैं।

तट के आगे समुद्र का एक भाग होता है, जिसे उपतट (littoral sea) कहते हैं। यह गहरे समुद्र और तट के बीच का उथला भाग है। यहाँ भी तरङ्गों का वेग अति प्रचण्ड रहता है, अतः इन तरङ्गों द्वारा पदार्थों के मोटे-मोटे टुकड़े तट पर फिंक जाते हैं और सूक्ष्म कण गहरे समुद्रों की तलैटी में बह जाते हैं। उष्ण कटिबन्ध की मूँगाओं की भित्तियाँ समुद्र के इसी भाग में पायी जाती हैं। मूँगे की ये भित्तियाँ शीत-प्रदेशों में नहीं होतीं।

उपतट के पश्चात् रेणु-समुद्र (pelitic seas) आता है। यह १५० से ६०० फुट गहरा होता है। इसकी तलैटी में मिट्टी

और पत्थर के सूक्ष्म कण सञ्चित रहते हैं। इसीलिये इसे रेणु-समुद्र कहा जाता है। ज्यों-ज्यों गहराई बढ़ती जाती है, हरे-हरे सामुद्रिक नरकुल पौधे कम होते जाते हैं और लाल या भूरे रङ्ग के एलगा (algae) अधिक मिलने लगते हैं।

इन समुद्रों के अतिरिक्त कुछ अवशिष्ट समुद्र (relic seas) और झीलें भी पायी जाती हैं। काला सागर (ब्लैक-सी) और कास्पियन सागर इसी प्रकार के समुद्र हैं। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि प्राचीन काल में एक बड़ा भारी भूमध्यसागर था, जो उत्तर में उत्तरी महासागर से और दूसरी ओर आजकल के रोमन भूमध्यसागर से मिला हुआ था। पर अब बीच में स्थल प्रदेश के उभड़ आने से कास्पियन सागर चारों ओर ज़मीन से घिर गया है। इसका पृष्ठतल १७०००० वर्ग मील है और समुद्र-तट से यह ८२ फुट नीचे है।

———

चौथा अध्याय

अन्तरिक्ष

अन्तरिक्ष की गणना वस्तुतः भूमण्डल के साथ ही होती है। समस्त भूमि के तीन भाग हैं—स्थल-मंडल, जल-मंडल और वायु-मंडल। इस वायु-मंडल को ही हम अन्तरिक्ष कहेंगे। एक समय था, जब ये तीनों मंडल एक ही थे और समस्त भूमि अतितप्त वाष्पों का समूह थी। धीरे-धीरे यह ठण्डी होती गई, और कुछ वाष्प पदार्थ ठोस के रूप में जम गये और इनका स्थल भाग बन गया, पानी की भाप इस तापक्रम पर द्रव अवस्था में परिणत हो गई और जल बन गई। कुछ वाष्पें ऐसी थीं जो इतने तापक्रम पर द्रव भी न बन सकीं, और वे वायु के रूप में विद्यमान हैं। इनको जल के समान द्रव या अन्य पदार्थों के समान ठोस बनाने के लिये अति शीत तापक्रम की आवश्यकता है—लगभग −१०० श से −२५० श तक की।

भूमि के अतिरिक्त कुछ अन्य ग्रहों में भी ऐसा ही वायुमंडल विद्यमान है। सूर्य में तो धातु के बादलों का वायु-मंडल है। शुक्र पर ७० मील तक वायु-मंडल है, और यह सफ़ेद बादलों से आच्छादित रहता है। बृहस्पति के बादल पानी के नहीं, प्रत्युत

कर्बनद्विओषिद के हैं। शनिः में भी सम्भवतः वायु-मंडल है। पर चन्द्रमा में वायुमंडल का नितान्त अभाव प्रतीत होता है। हमारी पृथ्वी की अवस्था अतिशीत चन्द्रमा और अतितप्त कुछ अन्य ग्रहों के बीच की है।

पृथ्वी में जल, स्थल और वायुमंडल किस अनुपात में हैं, यह नीचे के अङ्कों से स्पष्ट हो जायगा।

(१)	स्थल का क्षेत्रफल	१९७,०००,००० वर्गमील
	स्थल का आयतन	२५६,०००,०००,००० घनमील
	स्थल की तौल	६×१०^{२१} टन
(२)	जल का क्षेत्रफल	१५०,०००,००० वर्गमील
	जल का आयतन	३००,०००,००० घनमील
	जल की तौल	१३×१०^{१७} टन
(३)	वायु की तौल	५×१०^{१५} टन

वायुमंडल में क्या है ?

पृथ्वी के वायुमंडल में अधिकांश मात्रा ओषजन और नोषजन की है, पर इनके अतिरिक्त कुछ और भी गैसें हैं, जैसे कर्बनद्वि-ओषिद आदि। १९ प्रतिशत के लगभग ओषजन है और ७७.५ प्रतिशत के लगभग नोषजन। कर्बनद्विओषिद की मात्रा नगरों में अधिक रहती है, और जङ्गलों और ग्रामों में कम। साधारणतः यह १.५ प्रतिशत होती है। ऋतुओं के अनुसार पानी की भाप भी अन्तरिक्ष में रहती है, औसत १ प्रतिशत समझा जा सकता

है। कुछ गैसें बहुत ही सूक्ष्म मात्रा में होती हैं, जिनका विवरण नीचे के अङ्कों से स्पष्ट है।

आर्गन (आलसीम)	१०० भाग वायु में	०·९४१ भाग
नेओन (नूतनम)	५५,००० भाग वायु में	१ भाग
हीलियम (हिमजन)	१८५,००० भाग वायु में	१ भाग
क्रुप्टन (गुप्तम)	२००,००० भाग वायु में	१ भाग
ज़ीनन (अन्यजन)	१७,०००,००० भाग वायु में	१ भाग

इन गैसों के अतिरिक्त परिस्थिति के अनुसार अन्य पदार्थ भी होते है। जैसे अमोनिया, नोपजन के ओषिद, ओज़ोन, पिपील-मद्यानार्द्र (फारमेलडीहाइड) आदि। धूल के कण भी अन्तरिक्ष में छितरे रहते हैं।

वायु का दबाव और तापक्रम

हवा का दबाव अधिकतर पारे के दबाव के अङ्कों में नापा जाता है। समुद्र-तल पर यह दबाव ३० इञ्च (७६ श. म.) ऊँचाई के पारे के स्तम्भ के बराबर होगा। यदि समस्त हवा का घनत्व प्रत्येक स्थल पर एकसा ही होता, तो समुद्र-तल से ऊपर तक सब हवा ३० × १०७८४ इंच ऊँची होती; क्योंकि पारा हवा से १०७८४ गुना भारी है, अर्थात् ५ मील तक ऊपर हवा होती। पर ऐसा नहीं है। ज्यों-ज्यों हम ऊपर जाते हैं, हवा का दबाव और घनत्व दोनों कम होते जाते हैं। समुद्र-तल से ९०० फुट ऊपर उठने पर दबाव ३० इंच के स्थान में २९ इंच रह

जायगा। निम्न अङ्कों से भिन्न-भिन्न ऊँचाइयों का दबाव प्रकट होगा—

दबाव	ऊँचाई
३० इंच	० फुट
२९	९१०
२८	१८५०
२४	५९१०
२०	१०५५०
१६	१६०००

इस हिसाब से ३० मील की ऊँचाई पर हवा का दबाव एक इंच का २०० वाँ भाग ही रहेगा, अतः यह कल्पना की जाती है कि हमारा वायु-मंडल ४५ या ५० मील ऊँचा होगा। कुछ लोगों का विचार है कि ९०-१०० मील तक भी कुछ न कुछ वायु विद्यमान होगी। उल्का-पातों की चमक से इस ऊँचाई का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। ये उल्का अन्य तारों से टूट कर ज्योंही पृथ्वी के आकर्षण के अन्दर आ जाते हैं, त्योंही ये पृथ्वी पर गिरना चाहते हैं। उल्का वायु में सङ्घर्ष खाकर देदीप्यमान होने लगते है पर जब तक ये वायु से और भी ऊपर थे, तब तक हमको दिखाई न देते थे। जैसे ही वायुमंडल में घुसेंगे, चमक के कारण दिखाई पड़ने लगेंगे। ऐसा पाया गया है कि कुछ उल्का ९० मील ऊँचाई तक देखे जा सके हैं। अतः यह अनुमान होता है कि ९० मील ऊँचाई तक हवा अवश्य होगी, जिसके

सङ्घर्ष के बिना न तो उल्का चमकते और न हमें दिखाई पड़ते। पर इतनी ऊँचाई पर दबाव कितना कम होगा, इसका अनुमान लगाना कठिन है। १० हज़ार फुट की ऊँचाई पर ही मनुष्य का दम निकलने लगता है, तो इतने ऊँचे पहुँचने की तो कथा ही क्या।

वायुमण्डल का तापक्रम तो स्थान-स्थान पर और समय-समय पर बदलता रहता है। अधिकतर वायुमण्डल सूर्य से सीधा ही ताप ग्रहण नहीं कर सकता। विकिरण द्वारा पहले स्थलभाग और जलभाग तप्त होता है, और फिर इसके संपर्क में आकर वायु का तापक्रम बढ़ता है। हवा का दबाव जितना कम होगा उतना ही कम वह ताप का शोषण कर सकेगी, इसलिये भी ऊपर की हवा का तापक्रम बहुत कम होता है। पृथ्वी के धरातल पर तो हवा का तापक्रम पृथ्वी के तापक्रम के साथ-साथ घटता-बढ़ता रहेगा, दिन में कुछ और, और रात का कुछ और, पर अत्यन्त ऊँचाई पर तापक्रम अतिकम होगा, और बहुत कम परिवर्तनशील भी। आँधी और हवाओं के चलने के कारण भी जल और स्थल के ऊपर के अन्तरिक्ष का तापक्रम घटता-बढ़ता रहेगा।

अन्तरिक्ष के रंग

साधारण भाषा में कहा जाता है कि आकाश का रंग नीला है, पर वस्तुतः यह नीलिमा आकाश की नहीं, प्रत्युत अन्तरिक्ष

की है, आकाश तो इससे भी कहीं अधिक ऊपर तक है। तारे इस नीले आकाश में नहीं चमकते हैं, इस नीले आकाश से भी कहीं अधिक ऊँचे पर।

वायु के चलने के कारण पृथ्वी की धूल के कण अन्तरिक्ष में बिखर कर बहुत ऊपर तक पहुँच जाते हैं, और इन ठोस धूल के कणों के कारण ही आकाश का रंग नीला प्रतीत होता है। पानी की भाप के जम जाने से भी ऊपर 'हिमवान' धूल इकट्ठी हो जाती है, और ये बर्फ के छोटे-छोटे कण भी आकाश की नीलिमा में सहायक होते हैं।

धूल से आवृत्त अन्तरिक्ष में जब सूर्य्य की मन्द किरण प्रविष्ट होती हैं, तो और भागों की अपेक्षा उस किरण का नीला भाग हमारी ओर छितर कर पहुँच जाता है। धूल के कण जितने ही छोटे होंगे, आकाश उतना ही अधिक नीला प्रतीत होगा। भूमि की अपेक्षा पहाड़ के ऊपर से यह नीलिमा अधिक स्वच्छ प्रतीत होगी।

सूर्योदय और सूर्यास्त के समय के रंग बड़े रोचक होते हैं। जिस समय सूर्यास्त हो रहा हो उस समय के रंगों का निरीक्षण करने पर पता चलेगा कि दो प्रकार के रंग हैं, एक तो क्षितिज के पास के रंग और दूसरे सूर्य को केन्द्र बनाकर उसके चारो ओर के मण्डलाकार रंग।

अस्त होते समय सूर्य पीला या लाल प्रतीत होगा, क्योंकि हवा में बहुत दूर तक किरणों के चलने के कारण इनका नीला

भाग इधर-उधर छितराया जा चुका है, जो हमारी आँखों से परे है। दोपहर को क्षितिज श्वेत था, सायंकाल को सूर्य जब क्षितिज के निकट पहुँचता है, क्षितिज का रंग पीला पड़ जाता है, और जब क्षितिज के नीचे आ जाता है तो क्षितिज में लाल, पीले, नारंगी रंग हो जाते हैं। जो किरण जितनी ही अधिक वायु में होकर हमारे पास पहुँचेगी, उसके कारण आकाश हमको उतना ही अधिक लाल मालूम होगा, क्योंकि उसका नीला भाग उतना ही अधिक दायें-बायें छितर गया होगा। क्षितिज की लाली पहाड़ के ऊपर से और भी अच्छी लगेगी।

सूर्य की कोई भी किरण हम तक सीधी नहीं आती है। यह वायु में से आते समय मार्ग में मुड़ती हुई आती है। किरण जितनी ही अधिक मुड़ेगी, उतना ही यह कम लाल प्रतीत होगी। किरणों के मोड़ के कारण ही सूर्य हमको उस समय भी थोड़ी देर तक दिखाई पड़ता है, जब यह क्षितिज के कुछ नीचे पहुँच जाती है, क्योंकि मुड़कर इसको किरणें हमारे पास पहुँच जाती हैं। इसी प्रकार सूर्योदय के समय भी क्षितिज तक आने से कुछ पहले ही हमें सूर्य दिखाई पड़ने लगता है। इस समय इसका रंग लाल होता है। यदि आकाश में सूर्योदय या सूर्यास्त के समय अति हलके बादल हों तो, फिर रंगों की शोभा का कहना ही क्या।

पश्चिम में सूर्य के छिपते समय पूर्व की गोधूली का रंग भी देखने योग्य होता है। पहले तो पूर्वी क्षितिज पर हलकी लालिमा

की एक पट्टी चढ़ जाती है, और ज्यों-ज्यों सूर्य नीचे डूबता है, पूर्व का आकाश त्यों-त्यों लाल हो उठता है। वस्तुतः पश्चिम की मन्द लालिमा ही पूर्व से अधिक गहरी लाल होती हुई छितर कर हम तक वापस आ जाती है। पूर्ण सूर्यास्त होने पर सब रंग लुप्त हो जाते हैं, पर अज्ञात देशों द्वारा छितरा हुआ नीला प्रकाश रात भर आनन्द देता रहता है।

अन्तरिक्ष की हवाएँ

अन्तरिक्ष की हवाओं से परिचय सबको है। ये हवाएँ तीन कारणों से चला करती हैं—(१) सूर्य की गरमी के न्यूनाधिक्य से, (२) चन्द्राकर्षण द्वारा जनित ज्वार-भाटों के प्रभाव से, और (३) ज्वालामुखी के उद्गारों से या और किसी आकस्मिक घटना से। समस्त हवाओं का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है :—

१—**ज्वालामौखिक तूफ़ान**—जब कभी कहीं कोई ज्वालामुखी उग्र हुआ या कहीं धरती फटी तो उसके निकट की वायु में विक्षोभ उत्पन्न हो जाता है, और कुछ तूफ़ान आने लगते हैं।

२—**ज्वर-वात**—समुद्र के निकट, विशेषतः नदियों के मुहाने में, प्रत्येक ज्वार और भाटे के साथ-साथ वायु का जल से थल और थल से जल की ओर बहना प्रारम्भ हो जाता है।

३—ग्रह-वायु—प्रत्येक ग्रह अपनी धुरी पर घूमा करता है, और इसके साथ-साथ इसका वायुमण्डल भी घूमता है। भूमध्य-रेखा पर पृथ्वी के इस दैनिक भ्रमण की गति अधिक है और ध्रुवों के निकट कम। इसी हिसाब से प्रत्येक स्थल के वायु-मंडल की गति भी स्थान-स्थान पर न्यूनाधिक है। इसके कारण ध्रुवों से भूमध्य-रेखा तक वायु का तिरछा बहाव रहा करता है। ध्रुव-प्रदेश से भूमध्य-प्रदेश में जो ठंडी हवाएँ आयेंगी, अथवा भूमध्य से ध्रुवों को जो गरम हवाएँ जायेंगी उनकी दिशायें तिरछी हो जायँगी।

४—व्यापारी हवाएँ—ये हवाएँ सूर्य की गरमी के अनुसार भूमध्य रेखा से ध्रुवों तक, और ध्रुवों से भूमध्य रेखा तक चला करती हैं; गरम प्रदेश की हवाएँ गरम होकर हलकी होती और ऊपर को उठती हैं, और उनके रिक्त स्थान को पूरा करने के लिए ठंडे प्रदेशों की हवायें इधर आ जाती हैं।

५—जल और स्थल-समीर—नदी या समुद्र के किनारे ऐसी हवाएँ नित्य जाती आती रहती हैं। प्रातःकाल, सूर्य की किरणों से स्थल भाग के ऊपर की हवा शीघ्र गरम होकर ऊपर उठती है, और उसके स्थान में नदी या समुद्र के ऊपर की हवा स्थल की ओर बहने लगती है। सायंकाल को स्थल जल की अपेक्षा शीघ्र ठंडा होता है और हवा स्थल से जल की ओर बहने लगती है।

६—पर्वत और घाटियों की हवाएँ—ऊँचे-ऊँचे पर्वतों और उनकी घाटियों में ये हवाएँ पाई जाती हैं। रात को ये हवाएँ पर्वतों के ढाल की ओर नीचे को बहती हैं, पर दिन में ये नीचे से ऊपर को जाती है। जिस जगह घाटी मैदान में खुलती हैं, वहाँ पर इन उतरती हुई हवाओं का वेग अति तीव्र हो जाता है। दिन के समय ऊपर को चढ़ती हुई हवाएँ सापेक्षतः धीमी होती हैं।

७—बवंडर और तूफ़ान—भिन्न-भिन्न दिशाओं में जाने वाली हवाओं के बीच में (विशेषतः जब उनका कई ओर आकर्षण हो) कभी-कभी भँवरें पड़ जाती हैं, और विचित्र बवंडर आने लगते हैं। अज्ञात कारणों से कभी-कभी आकस्मिक तूफ़ान भी उठते हैं।

८—ग्रहण संबन्धी हवाएँ—चन्द्र-ग्रहण और सूर्यग्रहण के समय स्थान विशेष का तापक्रम कुछ क्षणों के लिये परिवर्तित हो जाता है, क्योंकि वहाँ पर छाया आ जाती है। तापक्रम की इस भिन्नता के कारण भी हवाओं का चलना आरम्भ हो जाता है।

हवाओं का वेग भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न होता है, और वेग की तीव्रता के अनुसार इनका दबाव भी घटता-बढ़ता रहता है, जैसा कि निम्न अंकों से विदित होगा—

नाम	वेग प्रति घंटा	दबाव प्रति वर्ग फुट
शान्त	० मील	० पौंड
अति मन्द समीर	२	०.०३
मन्द समीर	७	०.२३
पवन	११	०.६४
तीव्र वात	१८	१.६२
उग्र वात	२७	३.६४
आँधी	३६	६.४८
तीव्र आँधी	४५	१०.१२
उग्र आँधी	५८	१७.१२
तूफ़ान	७६	२९.२६
भयंकर तूफ़ान	९५	४५.१२

बादल और कोहरा

अन्तरिक्ष में होने वाले व्यापारों में सब से अधिक उल्लेखनीय बादलों का बनना और बरसना है। सूर्य की गरमी से उष्णकटिबन्ध का ही नहीं, प्रत्येक स्थल का जल कुछ न कुछ भाप बन कर उड़ा करता है, और अन्तरिक्ष में पहुँच जाता है। पानी की भाप हवा से हलकी होती है, और हवा के बहाव के साथ-साथ इधर-उधर बहती फिरती है।

भाप स्वयं अदृष्ट है, और जब तक ठण्डी होकर इसके जल-कण न बन जावें तब तक दिखाई न पड़ेगी। हमारे चारों ओर की हवा में भाप मिली हुई है। वायु का तापक्रम जितना ही अधिक होगा उतनी ही अधिक भाप इसमें रह सकेगी। १ घनमीटर आयतन में ७६ श. म. दबाव पर भिन्न-भिन्न तापक्रम पर अधिक से अधिक जितनी भाप हवा में रह सकती है, यह नीचे के अङ्कों से प्रकट होता है—

तापक्रम	भाप (ग्राम में)	तापक्रम	भाप (ग्राम में)
०° श	४·८४	२५ श	२२·८०
५°	६·७६	३०	३०·०४
१०°	९·३३	३५	३९·१८
१५°	१२·७१	४०°	५०·७०
२०°	१७·१८		

मान लो कि दिन में २५ तापक्रम पर हवा में १२ ग्राम प्रति घन मीटर भाप है। इस तापक्रम पर अधिक से अधिक २२·८ ग्राम भाप हवा में रह सकती है, तो इसकी क्लेदता $\frac{१२ \times १००}{२२·८}$ अर्थात् ५३ प्रतिशत के लगभग मानी जायगी। रात को जब ठण्डक पड़ी तो तापक्रम मान लो ५° हो गया। इस तापक्रम पर अधिक से अधिक ६·७६ ग्राम भाप प्रति घन मीटर रह सकती

है। पर हवा में थी १२ ग्राम। अतः ५·२४ ग्राम भाप (१२-६·७६) का क्या होगा? यह द्रव जलकणों में परिवर्तित हो जायगी। रात को जो ओस पड़ती है, वह वस्तुतः ये जलकण ही हैं। यदि तापक्रम और कम हो जाय, तो ये जलकण कोहरा और पाला के रूप में बर्फ बन जायँगे। धूल के कणों पर ये जलकण बिखरे रहते हैं और धूल इनकी भाप को द्रव बनाने में सहायता देती है।

वनस्पतियों के पत्तों पर जमी ओस सर्वथा वायु की भाप की ही नहीं होती। इनकी नसों में होकर ज़मीन का जो पानी ऊपर खिंचता है, और भाप बन कर फिर उड़ना चाहता है, वही फिर ठण्डक पाकर जल बन जाता है।

जो बात ओस और कोहरे के लिये है, वह बादलों के लिये, और ओलों के लिये भी है। समुद्र के जल की बहुत सी भाप ऊपर को उठती है। ऊपर का तापक्रम नीचे के तापक्रम से कम होता है, अतः यह शनैः-शनैः ठण्डी पड़ती जाती है। यदि भाप वाली हवा के मार्ग में कोई पहाड़ आगया तो ये हवाएँ और ऊपर उठने का प्रयत्न करेंगी। जितना ऊपर चढ़ेंगी उतना ही और कम तापक्रम मिलेगा।

फलतः तापक्रम इतना कम हो जाता है कि हवा में सब पानी भाप के रूप में नहीं रह सकता, और पानी बरसने लगता है। यदि तापक्रम हिमाङ्क से भी अधिक कम हो गया तो ओले पड़ने लगते हैं।

रूप-रङ्ग के अनुसार बादलों के कई विभाग किये गये हैं।

(१) सिर्रस (cirrus)—ये पाँच से दस मील तक ऊँचे होते हैं और यद्यपि इनकी वास्तविक गति १००-२०० मील प्रति घण्टा होती है, पर फिर भी भूमि से देखने पर अधिक गतिवान नहीं प्रतीत होते। ये समानान्तर सूत्रवत् रेखाओं या पङ्खों के समान चमकती हुई फुटकों में दिखाई पड़ते हैं।

(२) सिर्रो स्ट्रेटस (cirro-stratus)—सिर्रस बादलों की अपेक्षा ये कम नीचाई (चार-साढ़े चार मील) पर होते हैं और वस्तुतः उनकी सूत्र-रेखाओं से मिल कर बने पटल होते हैं। इनके समानान्तर पटल आकाश भर में फैल जाते हैं।

(३) सिर्रोक्यूमुलस (cirro-cumulus)—जब बादल गोल-गोल फुटकों या गेंदों के रूप में टूट कर तीन मील की नीचाई पर उतर आते हैं, तो उन्हें सिर्रोक्यूमुलस कहते हैं। ये पानी के फसूकर के समान प्रतीत होते हैं।

(४) क्यूमुलस (cumulus)—ये बादल लगभग किसी न किसी रूप में प्रत्येक दिन दिखाई पड़ सकते हैं। जब धूप पड़ती है, तो नीचे की हवा गरम होकर ऊपर उठती है, और ऊपर धीरे-धीरे ठण्डी होने लगती है, और एक ऊँचाई पर जाकर इसकी भाप जलकण में परिवर्तित हो जाती है, और क्यूमुलस बादल दिखाई पड़ने लगते हैं। ज्यों-ज्यों दोपहर आता है ये बादल बड़े होते जाते हैं, और इनकी चोटी गोल सी होती है और ये ऊपर उठते हुए दिखाई देते हैं। ये डेढ़ मील से ढाई मील तक ऊँचे होते हैं।

(५) क्यूमुलो-निम्बस (cumulo-nimbus)—क्यूमूलस बादलों के अतीव एकत्रित समूह से ही ये बनते हैं, इनमें कड़क और गरज होती है। ये आधे मील से एक मील की ऊँचाई तक होते हैं।

(६) निम्बस (nimbus)—जिस बादल से पानी बरस रहा हो उसे निम्बस कहते हैं।

(७) स्ट्रेटस (stratus)—सर पर मँडराते हुए अति नीचे बादल (५०० गज़ ऊँचे) पानी बरसने से पूर्व स्ट्रेटस कहलाते हैं।

पाँचवाँ अध्याय

आकाश

आकाश किसे कहते हैं, इसकी मीमांसा करना आवश्यक नहीं है। प्राचीन और आधुनिक सभी विज्ञान-वेत्ताओं ने आकाश को सर्वव्यापक माना है। यह सम्पूर्ण भौतिक पदार्थों की अपेक्षा अत्यन्त सूक्ष्म है। आकाश ही एक ऐसी सत्ता है, जिसके कारण समस्त विश्वमण्डल अपना व्यापार कर रहा है। यदि आकाश न होता तो हमें सूर्य का प्रकाश और ताप कुछ भी प्राप्त न होता। आकाश के द्वारा ही हम विद्युत् की बड़ी-बड़ी तरंगें बिना किसी अन्य साधन के एक स्थान से दूसरे स्थान को भेज सकते हैं। जो लोग बेतार के तार से परिचित हैं वे इस बात को भली भाँति जानते हैं। आकाश बड़ी ही विचित्र वस्तु है।

यह तो सर्वव्यापक आकाश की बात हुई। पर साधारण जनता आकाश किसे कहती है? किसी बालक से पूछो कि आकाश या आसमान कहाँ है, तो वह ऊपर उँगली उठा देगा और जो पेड़ों के शिखरों को छूता हुआ नीला-नीला वितान तना है, उसे ही वह आकाश समझेगा। ऐसा मालूम होता है कि यह नीला आकाश हमारी छत के ऊपर ही है, पर यदि हम छत

के ऊपर चढ़ जायँ तो वहाँ भी हम आकाश को न पाएँगे। ज्यों-ज्यों हम ऊपर बढ़ते जायँगे त्यों-त्यों आकाश भी और ऊपर बढ़ता जायगा। ऊँचे से ऊँचे पेड़ों की शिखाओं से भी आकाश अधिक ऊँचा है। चिड़ियाँ बहुत ऊँचाई तक उड़ सकती हैं, वायुयान भी बहुत ऊँचे चढ़ जाते हैं, यहाँ तक कि हमारे घर के आकार के बने हुए यान इतने ऊँचे चढ़ जाते हैं कि वे चील के समान छोटे दिखाई पड़ते हैं, पर ये भी आकाश की ऊँचाई की थाह नहीं ले सकते। हमारी पतंगें और हमारे गुब्बारे भी थोड़ी ही दूर तक जा सकते हैं। पृथ्वी पर खड़े हुए हम तो यह समझते हैं कि ये पतंगें नीले आकाश में उड़ रही हैं, पर यह नीला आकाश इस ऊँचाई से भी बहुत ऊँचा होगा।

आकाश को हम बहुरूपिया मान सकते हैं। आप समझते होंगे कि आकाश नीला है, पर यह बात हमेशा ठीक नहीं है! क्या आपने कभी उस समय आकाश की ओर देखा है जिस समय प्रातःकाल में सूर्य निकलने वाला ही हो। इस समय का दृश्य कितना मनमोहक होता है। कहीं नारंगी रंग, कहीं नीला, पीला, हरा और गुलाबी रंग, तरह-तरह के रंगों से आकाश सुशोभित हो जाता है। पर ज्यों-ज्यों सूर्य्य का उदय होता है, ये रंग विलुप्त होते जाते हैं और सूर्य के पूर्णोदय पर समस्त आकाश तेजोमय श्वेत रंग का हो जाता है। दिन भर यह इसी प्रकार रहता है। सायंकाल को जब सूर्य अस्त होने को होता है, उस समय आकाश फिर रंग-विरंगे कपड़े पहनने लगता है। उपा-

काल के समान गोधूली बेला में भी तरह-तरह के रंग दिखाई पड़ने लगते हैं। फिर वही लाल, नारंगी, पीले, हरे रंग निकल आते हैं। सूर्यास्त के पश्चात् ये सम्पूर्ण रंग विलुप्त हो जाते हैं और फिर आकाश नीला और निर्मल दिखाई देने लगता है। रात भर आकाश में यही नीला रंग रहता है और प्रातःकाल फिर तरह-तरह के रंग निकलने आरम्भ होते हैं। इस प्रकार रंगों का यह चक्र निरन्तर चला करता है।

यह कहा गया है कि दिन में आकाश का रंग श्वेत होता है और रात को नीला और दिन और रात की सन्धियों में तरह-तरह के रंग दिखाई पड़ते हैं। आकाश को ये रंग कहाँ से मिलते हैं? हमें ये सब रंग सूर्य के प्रकाश से प्राप्त होते हैं। सूर्य का प्रकाश सामान्यतः श्वेत रंग का कहा जाता है। श्वेत रंग सात रंगों का मिश्रण है :—

(१) लाल
(२) नारंगी
(३) पीला
(४) हरा
(५) आसमानी
(६) नील
(७) बैंजनी या कासनी

प्रकाश एक स्थान से दूसरे स्थान को लहरों के रूप में चलता है। लाल, नारंगी, पीले और हरे रंग की लहरें बहुत

बड़ी होती हैं और आसमानी, नील और कासनी रंग की लहरें छोटी होती है। श्वेत रंग इन सातों रंगों का मिश्रण है। जब सातों रंगों की किरणें मिल कर प्रकाश द्वारा हमारे नेत्रों में पहुँचती हैं, हमें आकाश का रंग श्वेत दिखाई देता है। उषा-काल और गोधूली बेला में ये किरणें पूर्ण रूप से हमारे पास नहीं आ पातीं। सूर्य इस समय क्षितिज के नीचे रहता है। हमारे पास तक पहुँचते-पहुँचते ये किरणें विभाजित हो जाती हैं और इस-लिये आकाश में तरह-तरह के रंग दृष्टिगत होते हैं। रात्रि के समय सूर्य पृथ्वी के दूसरे भाग में पहुँच जाता है, उसकी किरणें हम तक नहीं आ सकती हैं। तब भी छोटी लहरों की किरणें किसी प्रकार मुड़ कर हमारे पास आ जाती है। इन छोटी लहरों की किरणों में आसमानी, नीला और कासनी रंग होता है। हमको इसी रंग में रात्रि को आकाश दिखाई देता है। इसीलिये हम आकाश को नीला कहते हैं।

आकाश में कभी-कभी, विशेषतः वर्षा होने के उपरान्त, इन्द्र-धनुष दिखाई पड़ते हैं। इन्द्र-धनुष में लाल, नारंगी, पीले, हरे सभी रंग होते हैं, जो कि ऊपर बताये गये हैं। वर्षा होने से आकाश-मण्डल में जल-कण बिखर जाते हैं। जल की ये गोल बूँदें सूर्य के किरणों के रंग का विभाजन कर देती हैं। इसीलिये तरह-तरह के रङ्ग दिखाई देते हैं। कभी-कभी आकाश में जब थोड़े से बादल हों तो उनके कारण भी अनेक प्रकार के रङ्ग दिखाई देंगे। आकाश का वह दृश्य भी कितना मनोहर होता है, जब नीले

बादलों के चारों ओर सुनहरे और लाल रङ्ग की पट्टियाँ बनी रहती हैं।

अब तक हमने आकाश के रङ्गों का विवरण दिया है। दिन में प्रकाश की ओर देखने से सूर्य के अतिरिक्त और कुछ दिखाई न पड़ेगा। पर इसका अर्थ यह न समझना चाहिये कि इस समय आकाश में और कुछ है ही नहीं। रात में आपको आकाश में सहस्रों तारे चमकते दिखाई पड़ेंगे। दिन में भी ये तारे आकाश में ही विद्यमान हैं, पर सूर्य के प्रचण्ड तेज के सामने इनकी ज्योति मन्द पड़ गई है, इसीलिये ये देखे नहीं जा सकते हैं। प्रातःकाल होते ही सब तारे और तारों का राजा चन्द्रमा तेज-हीन हो जाता है। कभी-कभी प्रातःकाल में सूर्योदय होने पर भी चन्द्रमा दिखाई देता रहता है और कदाचित् एक-दो मन्द तारे भी आपको दिखाई दे जायँ, पर इन सबकी ज्योति रात्रि के समान सुन्दर और मनोमोहक प्रतीत न होगी। सायंकाल को भी इनकी यही अवस्था होती है। कभी-कभी सूर्यास्त के पहले ही आकाश में चन्द्रमा दिखाई देने लगता है, यद्यपि यह सूर्य की ज्योति के कारण कान्तिहीन प्रतीत होता है। मध्याह्न-काल में चन्द्रमा अथवा तारों का देखना असम्भव ही है। रात्रि को ही अनेक तारागण और चन्द्रमा दृष्टिगत होते हैं।

नक्षत्र, पृथ्वी, सूर्य इन सबको मिला कर जो संसार बनता है वह सौर-जगत् कहलाता है। सूर्य को सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का पिता मानना चाहिये, क्योंकि अन्य सब नक्षत्र इसी से उत्पन्न हुए हैं

और इसके आकर्षण द्वारा आकाश-मण्डल में स्थित हैं। सब नक्षत्र सूर्य की परिक्रमा कर रहे हैं। हमारी पृथ्वी सूर्य के चारों ओर ३६५ १/४ दिन में एक परिक्रमा कर आती है। अन्य नक्षत्र भी भिन्न-भिन्न काल में अपनी यह प्रदक्षिणा पूर्ण करते हैं। सूर्य भी स्थिर नहीं है। यह भी अपनी धुरी पर बड़े वेग से लट्टू के समान नाच रहा है। कुछ लोगों का यह कहना है कि इस ब्रह्माण्ड में इस सूर्य से भी बड़े अनेक सूर्य विद्यमान हैं। होंगे, पर हमें तो अपने इसी सूर्य से काम है, क्योंकि हमको तो यही गरमी और प्रकाश देता है और हमारे जीवन की रक्षा करता है।

मुख्य-मुख्य नक्षत्रों का विवरण देने के पूर्व यहाँ हम एक सारिणी देना उचित समझते हैं, जिससे सब ग्रहों के आकार आदि का कुछ तुलनात्मक ज्ञान हो जावे। देखो सारिणी (१)।

इस सारिणी में जो-जो अङ्क दिये गये हैं, उनका तात्पर्य यहाँ दे देना आवश्यक है।

व्यासार्ध—प्रत्येक ग्रह एक बड़ा गोला है। इस गोले के बीचो-बीच में जो एक बड़ा वृत्त बनता है उसका अर्द्धव्यास यहाँ दिया गया है। सारिणी के देखने से मालूम होगा कि सूर्य का व्यासार्ध सब से अधिक है और बुध नक्षत्र का सब से कम है।

तौल—सारिणी के दूसरे कोष्ठक में ग्रहों की आपेक्षिक तौल दी गई है। इस तौल में पृथ्वी को इकाई मान लिया गया है, अर्थात्

अङ्कों से यह दिखाया है कि अन्य नक्षत्र पृथ्वी से कितने गुने भारी है। सूर्य पृथ्वी से तीन लाख उनतीस हजार तीन सौ नव्वे गुना भारी है पर मङ्गल ग्रह से पृथ्वी १० गुनी भारी है।

(सारिणी १)

ग्रह	व्यासार्ध	तौल	भ्रमण पथके अक्ष का दीर्घ व्यासार्ध	दैनिक भ्रमण का समय	वार्षिक भ्रमण का समय	चन्द्रमाओं की संख्या
	मील	पृथ्वी = १	करोड़ मील	दि० घ० मि०	मध्यसौर दिन में	
सूर्य	४३२८९०	३२९३९०	... ...	२५—०—७	... ...	...
बुध	१३८७	०·३४	३·६	८८—०—०	८७·९७	०
शुक्र	३७८२	०·८१८	६·७२	०—२३—४०	२२४·७०	०
पृथ्वी	३९६३·२	१·०००	९·२९	०—२३—५६	३६५·२५६	१
मङ्गल	२११८	०·१०६	१४·१६	०—२४—३७	६८६·९८	२
बृह०	४३१२०	३१४·५	४८·३३	०—९—५५	४३३२·५९	९
शनि	३६१५०	९४·०७	८८·६२	०—१०—१५	१०७५९·२	१०
वरुण	१५४४०	१४·४०	१७८·८	०—१३—०	३०६८६·०	
इन्द्र	१६५७०	१६·७२	२७९·२१	?	६०१८७·७	

भ्रमण-पथ के अक्ष का दीर्घ व्यासार्ध— यह कहा जा चुका है कि सभी ग्रह सूर्य के चारों ओर परिक्रमा लगाते हैं। जिस पथ या मार्ग द्वारा ये सूर्य के चारों ओर घूमते हैं वह पूरा वृत्त नहीं है, प्रत्युत अण्डे के आकार का है। उनका यह भ्रमण-पथ दीर्घ-वृत्त या अण्ड-वृत्त कहलाता है। इस अण्ड वृत्त रूप परिधि के दो व्यास होते हैं। एक लघु व्यास कहलाता है, और दूसरा दीर्घव्यास। इस सारिणी में इस दीर्घव्यास का आधा भाग अर्थात् दीर्घव्यासार्ध दिया गया है।
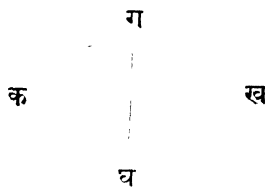
क ख = दीर्घ व्यास
ग घ = लघु व्यास

दैनिक भ्रमण का समय—हमारी पृथ्वी के समान सब ग्रहों में दो प्रकार की गतियाँ होती हैं। लट्टू के नाचने के समान ये सब अपनी धुरी पर नाचते हैं। पृथ्वी अपनी धुरी पर २४ घण्टे में एक बार अपना चक्कर पूरा कर लेती है। यह इसके दैनिक भ्रमण का समय है। हमारे यहाँ २४ घण्टे का एक दिन-रात होता है पर और नक्षत्रों का यह हाल नहीं है। सूर्य भी अपनी धुरी पर

चक्कर लगाता है। पर उसके एक चक्कर में हमारे २५ दिन सात मिनट लग जाते है। बृहस्पति नक्षत्र का दिन-रात ९ घण्टा ५६ मिनट का ही होता है। शनिग्रह १० घण्टा १५ मिनट में अपनी धुरी पर एक चक्कर पूरा करता है। इस समय को दैनिक भ्रमण का समय कहते हैं।

वार्षिक भ्रमण का समय—ग्रहों की दूसरे प्रकार की गति सूर्य की परिक्रमा करना है। प्रत्येक नक्षत्र सूर्य के चारों ओर घूम रहा है। इस प्रकार के एक पूरे चक्कर में जितना समय लगता है उसे एक वर्ष कहते हैं। पृथ्वी का वर्ष ३६५$\frac{१}{४}$ दिन का होता है, पर बुध नक्षत्र हमारे ८८ दिनों में ही एक पूरी परिक्रमा कर आता है। बृहस्पति नक्षत्र को एक पूरी परिक्रमा करने में चार हजार तीन सौ तैंतीस दिन के लगभग लगते हैं। इन्द्र को तो ६० हजार १८८ दिन के लगभग लग जाते है। पाठक अनुमान करें कि इन ग्रहों का एक वर्ष कितना लम्बा होता होगा। यदि किसी मनुष्य की अस्सी वर्ष आयु हो तो उसके सारे जीवन में वरुण ग्रह का केवल एक दिन ही समाप्त होगा। इस प्रकार की परिक्रमा के भ्रमण-काल को वार्षिक भ्रमण का समय कहते है।

चंद्रमाओं की संख्या—पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है। पर आपने देखा होगा कि चन्द्रमा पृथ्वी के चारों ओर घूम रहा है। और ग्रहों के साथ भी इस प्रकार के चन्द्रमा हैं। केवल

बुध और शुक्र के साथ कोई चन्द्रमा नहीं है। शनि ग्रह के साथ तो दस चन्द्रमा हैं, बृहस्पति के साथ ८ और वरुण के साथ ४ चन्द्रमा हैं। यदि आप बृहस्पति या शनि ग्रह में रहते होते और फिर रात के समय आकाश में आपको ८—१० चन्द्रमा उदय होते दिखाई पड़ते तो कैसा आनन्द आता! क्या आप इस अलौकिक शोभा की कल्पना कर सकते हैं!

ये सब चन्द्रमा एक दिशा में ही नहीं घूमते हैं। कुछ तो जिस दिशा में उनके ग्रह घूमते हैं, उसी में वे भी घूमते हैं। इस अवस्था में उन चन्द्रमाओं को अनुकूल-चन्द्र कहा जाता है। कुछ चन्द्र इन ग्रहों की गति की उलटी दिशा में चक्कर लगाते हैं। इन्हें प्रतिकूल चन्द्र कहते हैं। बृहस्पति ग्रह के ८ चन्द्रों में ७ अनुकूल चन्द्र हैं और १ प्रतिकूल चन्द्र है। वरुण में चारों प्रतिकूल हैं। शनि में ९ अनुकूल और १ प्रतिकूल है। हमारी पृथ्वी का चन्द्र अनुकूल चन्द्र है।

(१) सूर्य्य

आकाश के समस्त सौर-मण्डल का केन्द्र सूर्य्य है, और हमारी पृथ्वी ही नहीं, और ग्रह भी इसके चारों ओर घूमते हैं। पृथ्वी से यह सूर्य सवा नौ करोड़ मील की दूरी पर स्थित है। प्रकाश की गति १,८६,००० मील प्रति सैकण्ड है, और सूर्य्य से हम तक प्रकाश आने में आठ मिनट लग जाते हैं। सूर्य्य का व्यास आठ लाख चौसठ हज़ार मील के

लगभग है अर्थात् पृथ्वी के व्यास का १०९ गुना। इस हिसाब से आकार में एक सूर्य में कोई तेरह लाख हमारी ऐसी पृथ्वियाँ बन सकती हैं। पर सूर्य के पदार्थों का घनत्व पृथ्वी की अपेक्षा एक चौथाई ही है, अतः यह पृथ्वी से सवा तीन लाख गुना भारी है।

पृथ्वी अपनी आकर्पण-शक्ति से सभी वस्तुओं को अपनी ओर खींचती है। सूर्य में यह आकर्पण-शक्ति पृथ्वी से २८ गुनी अधिक है। यदि हमारे शरीर की तौल डेढ़ मन है तो यह सूर्य में जाते ही ४२ मन की हो जायगी। सूर्य के केन्द्र में दबाव भी बहुत अधिक है, पृथ्वी के दबाव से लगभग दस खरब गुना। इतने दबाव पर भी सूर्य का घनत्व इतना कम इसलिये है, कि इसके अन्दर का तापक्रम कई लाख डिगरी है,—यों तो सूर्य का साधारण तापक्रम ६००० शतांश माना जाता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि जब सोना १०३७ शतांश तापक्रम पर पिघल जाता है, तो यह तापक्रम कितना भयानक होगा।

सूर्य के जिस गोलाकार भाग को हम देखते हैं वह प्रकाश-मण्डल है। दूरदर्शक यंत्रों से देखने पर पता चलेगा कि सूर्य सर्वत्र एक रूप ही श्वेत नहीं है, इसमें अनेक छोटे-छोटे चमकीले कण दिखाई पड़ेंगे। कुछ तो 'चावल के दानों' के समान हैं, और कुछ कलङ्क बहुत ही बड़े हैं। ज्योतिषियों ने इनके फ़ोटो लिये हैं। इन दानों का व्यास चार सौ से बारह सौ मील तक लम्बा है। चन्द्रमा के कलङ्क स्थायी हैं, पर सूर्य के कलङ्क बदलते रहते हैं।

हमारी पृथ्वी के चारों ओर जैसा वायुमण्डल है वैसा ही एक वायुमण्डल सूर्य के चारों ओर भी है, जिसको पार करके प्रकाश हम तक आया करता है।

सूर्य अपने अक्ष पर बराबर घूमता रहता है, यह बात सूर्य के कलङ्कों की गति से बिलकुल सिद्ध हो जाती है। सूर्यमण्डल पर मशालों के समान चमकते हुए बादल भी दिखाई देते हैं; जिनकी गति से भी सूर्य का अपने अक्ष पर घूमना स्पष्ट हो जाता है।

सूर्य-ग्रहण का अध्ययन करने पर सूर्य की बहुत सी बातों का पता चलता है। जब हमारे नेत्रों और सूर्य के बीच में चन्द्रमा आता है तो सूर्य-ग्रहण लग जाता है, अर्थात् हम चन्द्रमा की छाया में आजाते हैं और सूर्य चन्द्रमा की आड़ में छिप जाता है। ऐसे अवसर पर लाखों मील जाने वाली रक्त वर्ण की भयानक ज्वालाएँ भी उठती देखी गई हैं। सूर्यग्रहण के अध्ययन से सूर्य के प्रकाश-मण्डल की भी जानकारी की जा सकती है।

सूर्य के चारों ओर हीलियम (हिमजन) गैस, हाइड्रोजन (उदजन) और कैलशियम (खटिकम) गैस के बादल मँडराते रहते हैं।

(२) चन्द्रमा

शोभा में चन्द्रमा की बराबरी करने वाला कोई भी आकाशीय पिण्ड नहीं है। अन्य नक्षत्रों की गिनती इसके सामने कुछ भी नहीं। चन्द्रमा अन्य पिण्डों की अपेक्षा हमारे निकट भी बहुत

है। वस्तुतः इसकी उत्पत्ति भी पृथ्वी से ही हुई है। किसी युग में यह पृथ्वी से टूट कर अलग जा पड़ा था, और तब से आज तक यह टूटा हुआ पिण्ड पृथ्वी की बराबर परिक्रमा कर रहा है।

चन्द्रमा का व्यास २१६० मील के लगभग है और इसका घनत्व पृथ्वी की अपेक्षा ३/५ है। ८१ चन्द्रमा मिल कर कहीं पृथ्वी की बराबरी कर पावेंगे। चन्द्रलोक में आकर्षण यहाँ की अपेक्षा १/६ ही है, अर्थात् हमारा डेढ़ मन का शरीर वहाँ १० सेर ही रह जावेगा।

हमारी पृथ्वी से चन्द्रमा सदा घटता-बढ़ता दिखाई देता है। चन्द्रमा के इन भिन्न-भिन्न रूपों को कला कहते हैं। चन्द्रमा लगभग एक मास में अपने वृत्त-मार्ग पर पृथ्वी के चारों ओर चक्कर लगा जाता है। अपने वृत्त-मार्ग पर किस दिन किस स्थान पर होगा, यह बात चन्द्रमा की कलायें देख कर जानी जा सकती है। जब यह हमारे बिलकुल दूसरी ओर पहुँच जाता है तब अमावस्या हो जाती है।

चन्द्रमा अपने अक्ष पर भी घूमता है, पर इस प्रकार कि इसका मुँह सदा पृथ्वी की ओर रहे। अतः हम चन्द्रमा का एक ही पार्श्व देख पाते हैं, और चन्द्रमा के दूसरी ओर क्या है, यह हम कभी न जान पावेंगे। चन्द्रमा का आधे से कुछ ही अधिक भाग हम देख पाये हैं, इस चन्द्रमा के बहुत से नक़शे भी बनाये गये हैं, और इनके पर्वतों, मैदानों और ज्वालामुखियों के विचित्र

नाम रख दिये गये हैं। जैसे लाइबनिज़ पर्वत, सेरेनिटेटिस सागर, इम्ब्रियम सागर आदि।

दूरदर्शक से देखने पर चन्द्रमा बड़ा ही सुन्दर लगता है। धूप में चमकता हुआ ज्वालामुखियों का भाग और दूसरी ओर उसकी परछाईं बड़ी भली लगती है। समुद्रों के स्थल का भी स्पष्ट पता चलता है। चन्द्रमा के पहाड़ यहाँ के पहाड़ों से कुछ ऊँचे ही हैं। वस्तुतः चन्द्रमा की सतह बहुत नीची है। परछाइयों को नाप कर पहाड़ों की ऊँचाई निकाली गई है। सबसे ऊँची चोटी २७ हज़ार फुट ऊँची है।

गैलीलियो ने चन्द्रमा के मैदानों को ही समुद्र समझ लिया था। ऊपर जो सागरों के नाम दिये गये हैं वे वस्तुतः मैदान हैं। पहाड़ों और मैदानों के फट जाने से दरारें भी बहुत सी बन गई हैं। चन्द्रमा की सबसे बड़ी विशेषता ज्वालामुखियों का होना है, लगभग छोटे-बड़े सब मिला कर तीस हज़ार ज्वालामुखी होंगे।

चन्द्रमा में वायुमण्डल का अभाव सा है। इसीलिये वहाँ रात में बहुत ही अधिक ठण्डक पड़ती है। तापक्रम—१०० श हो जाता होगा अर्थात् पानी के बरफ़ बनने के तापक्रम से भी १००° नीचे। पर वहाँ का दिन हमारे आधे मास के बराबर होता है, अतः दिन में तो चन्द्रमा खौलते हुए पानी से भी अधिक गरम रहता है, पर सूर्यास्त पर फिर शीघ्र नितान्त ठण्डा पड़ जाता है।

पूर्णिमा के चन्द्रमा का प्रकाश सूर्य के प्रकाश से ५ लाख गुना कम है। प्रोफ़ेसर पिकरिंग का अनुमान है कि चन्द्रमा में पौधे उगते हैं, पर १४ दिन ही उनका जीवन होता है। इतने ही समय में वे उगते, बढ़ते और सूख जाते हैं। पर निश्चय कुछ नहीं कहा जा सकता।

(३) ग्रह और तारे

सूर्य और पृथ्वी के अतिरिक्त अन्य सब आकाशीय पिंडों को तारा ही कहा जाता है। ये सब पूर्व में उदित होते हुए पश्चिम की ओर चले जाते हैं। पर ग्रहों और तारों की गति में एक भेद है, तारे एक दूसरे की अपेक्षा नहीं चलते। सप्तर्षि जैसे सायङ्काल को दिखाई देते हैं, ठीक उसी स्थिति में मध्य रात्रि में नहीं, पर वे एक दूसरे की अपेक्षा से नहीं चलते हैं। ग्रहों की स्थिति प्रतिदिन तारों की अपेक्षा परिवर्तित होती रहती है। ये तारों के बीच चलते रहते हैं, कभी आगे बढ़ जाते हैं, और कभी पीछे भी रह जाते हैं।

सौर-मंडल में सूर्य स्थिर समझा जाता है, और इसके अतिरिक्त ९ ग्रह ये हैं—बुध, शुक्र, पृथ्वी, मंगल, बृहस्पति, शनिः, वरुण, इन्द्र, (वारुणी, यूरेनस) और प्लूटो। इनके अतिरिक्त १५०० के लगभग छोटे-छोटे "अवान्तर ग्रह" भी हैं। ये सब सूर्य के आकर्षण द्वारा दीर्घवृत्ताकार मार्ग में चलते हैं, और सूर्य की प्रदक्षिणा किया करते हैं।

सूर्य के सबसे पास बुध है, और फिर शुक्र। तत्पश्चात् पृथ्वी और चन्द्रमा हैं और इनके आगे मंगल तारा। इसी क्रम से और भी हैं, इन्द्र सब से दूर है।

अवान्तर ग्रह—कुछ समय तक लोगों का विचार यही रहा था कि ग्रह केवल सात ही हो सकते हैं। बाद को यह धारणा निर्मूल ठहरी। पियाज़ी और गाउस ने सीरिस (Ceres) नामक एक ग्रह खोज निकाला। इसके पश्चात् ही एक दूसरे अवान्तर ग्रह का और पता चला, बाद को मैक्सवोल्फ ने ऐसी विधि बताई जिससे १५०० के लगभग छोटे-छोटे ग्रहों की खोज हो सकी। इनमें से एक ग्रह एरॉस (Eros) है, जो मंगल से भी अधिक पृथ्वी के निकट आ जाता है (पृथ्वी से सवा करोड़ मील दूर)। इसका व्यास १५ मील है, और ५ घण्टे १६ मिनट में इसके एक दिन एक रात हो जाते हैं।

(४) बुध

यह नक्षत्र सब नक्षत्रों से बहुत छोटा है और सूर्य के अति निकट है, इसलिए इसका देखना अति कठिन है। दूरदर्शक से यह दिन में ही देखा जा सकता है। शायापरेली ज्योतिषी ने इसका विशेष निरीक्षण किया था। इसके देखने का सब से उत्तम समय या तो वसन्त ऋतु के सायंकाल में या शरद ऋतु के उषा-काल में होता है। दूरबीन या दूरदर्शक यन्त्र से देखने पर इसके पृष्ठ पर काली-काली रेखायें भी दिखाई दी

हैं। बुध का वेग अन्य ग्रहों की अपेक्षा कहीं अधिक है, और इसकी कक्षा भी सबसे अधिक दीर्घाकार (चपटी) है। इसलिये बुध कभी सूर्य के अतिनिकट और कभी बहुत दूर चला जाता है। बुध में आकर्षण कम है, अतः इसमें वायुमण्डल का होना असम्भव सा है। इसका मुख बादलों से भी ढका नहीं है। सम्भवतः बुध का एक ही मुख सदा सूर्य की ओर रहता हो। इस कारण यहाँ तापक्रम बहुत अधिक होता है। पर दूसरा मुख बहुत ठण्डा रहता है। कौन कह सकता है कि इस ग्रह में भी प्राणी बसते हैं या नहीं ? यदि बसते होंगे तो न जाने वे किस प्रकार के होंगे !

(५) शुक्र

सूर्य और चन्द्रमा के पश्चात् आकाश का सबसे अधिक मनोमोहक तारा शुक्र ही है। यह सूर्योदय के ४ घण्टे पूर्व तक प्रातःकाल और सूर्यास्त के पश्चात् ४ घण्टे बाद तक सायकाल देखा जा सकता है। इसीलिये इसे प्रातःकालीन तारा और सायंकालीन तारा ये दो नाम भी दिये गये हैं। यह इतना चमकदार है कि रात्रि के समय इससे परछायीं भी पड़ती है। चन्द्रमा के समान इसकी कलायें घटती-बढ़ती रहती हैं। शुक्र दिन में भी देखा जा सकता है। जिस दिन प्रातःकाल ख़ूब चमकीला दिखाई पड़ता हो तो सूर्य को ओट करके किसी मकान की आड़ में इसे देखो। सावधानी से देखने पर यह १०-११ बजे दिन तक दिखाई देता रहेगा।

यद्यपि शुक्र पृथ्वी के बहुत निकट आ जाता है, फिर भी यह अच्छी तरह नहीं देखा जा सकता, क्योंकि जब पास आ जाता है तो यह चन्द्राकार दिखाई देता है। शुक्र पर सम्भवतः ऐसी कोई वस्तु है भी नहीं, जो अच्छी तरह देखी जा सके। यह सफ़ेद बादलों से ढका रहता है। कभी-कभी बादलों के हट जाने से कुछ भद्दे रङ्ग के धब्बे भी दिखाई देने लगते हैं। शायापरेली का कहना है कि बुध के समान शुक्र भी अपना एक ही मुख सदा सूर्य की ओर किये रहता है।

शुक्र पर ८० मील तक वायुमण्डल है, यह सफ़ेद बादलों से आवृत्त भी है। यहाँ पृथ्वी की अपेक्षा दुगुनी गरमी है, फिर भी सम्भवतः यहाँ जीवधारी रह सकते हैं। जीवन के अनुकूल साधन तो यहाँ हैं ही।

(६) पृथ्वी

शुक्र के पश्चात् पृथ्वी है। इसके विषय में कुछ भी कहना व्यर्थ है, क्योंकि यहाँ हम लोग रहते ही हैं। इस ग्रह में जड़-चेतन सभी प्रकार की सृष्टि विद्यमान है। कुछ भाग इस ग्रह के ऐसे हैं, जहाँ बहुत गर्मी पड़ती है और कुछ भाग ऐसे भी हैं जो वर्ष पर्य्यन्त बर्फ से ढके रहते हैं। मालूम नहीं, अन्य ग्रहों के निवासी हमारी पृथ्वी के विषय में क्या विचार रखते होंगे !!

(७) मंगल

इस ग्रह से हमारी निकटतम दूरी ५२३७०००० मील है, पर पृथ्वी से इसका अन्तर सदा एक सा नहीं रहता है। यह दूरी घटती-बढ़ती है। यह उन दिनों जब कि पृथ्वी से बहुत निकट रहता है सायंकाल को ही पूर्व दिशा में उदय होता हुआ दिखाई देता है, और प्रातःकाल पश्चिम में अस्त होता है। १५ या १७ वर्ष में एक बार मंगल विशेष बड़े आकार में दिखाई देता है। इस ग्रह की ज्योति अङ्गारे के समान लाल है। मंगल में हमारे ही बराबर, प्रायः २४½ घण्टे के दिन-रात होते हैं। पृथ्वी की धुरी के समान इसकी भी धुरी झुकी हुई है, अतः यहाँ भी हमारे यहाँ के समान ऋतुएँ होती होंगी। इस ग्रह का अधिकांश पृष्ठ लाल रंग का है और कहीं-कहीं हरापन भी दिखाई पड़ता है। ऐसा अनुमान है कि यहाँ के ध्रुवों पर भी बर्फ जमी हुई है। बहुत से लोग मंगल में नहरों का होना और कृषि आदि व्यवसाय भी मानते हैं।

पृथ्वी और मंगल में एक बड़ा भेद यह है कि पृथ्वी पर तीन भाग जल और एक भाग स्थल है, पर मंगल में तीन भाग स्थल और एक भाग जल है। इस प्रकार इस ग्रह में जल की बहुत कमी है। न जाने, वहाँ के प्राणियों का जीवन किस प्रकार चलता होगा। इस ग्रह में वायु की विद्यमानता भी सिद्ध की गई है। परन्तु यहाँ वायु पृथ्वी की अपेक्षा बहुत हलकी है। यहाँ की आकर्षण-शक्ति पृथ्वी की अपेक्षा ३/८ है।

मंगल के साथ-साथ दो और उप-ग्रह हैं। एक का नाम फोबोस (Phobos) है जिसका व्यास १० मील ही है। यह मंगल से ५८०० मील की दूरी पर स्थित है। यह प्रतिदिन मंगल की तीन बार परिक्रमा लगाता है। दूसरा उपग्रह डाइमस (Deimos) है जिसका व्यास केवल ५ मील है। यह मंगल से १४६००० मील की दूरी पर है और लगभग ३०$\frac{1}{2}$ घण्टे में मंगल का एक चक्कर पूरा कर लेता है।

(८) बृहस्पति

मङ्गल के पश्चात् बृहस्पति ग्रह है। पर दोनों के बीच में छोटे-छोटे बहुत से अवान्तर ग्रह भी हैं। शुक्र और मङ्गल को छोड़ कर अन्य सभी तारों से यह अधिक चमकदार है। हर तेरहवें महीने में यह पूर्व दिशा में सन्ध्या समय उदय होकर प्रातःकाल पश्चिम में डूबता है, और रात भर दिखाई पड़ता है।

बृहस्पति का आकार सौर जगत् में सबसे अधिक है। यह तोल में पृथ्वी से ३०० गुना अधिक है, इसकी घनता सूर्य के समान ही, पानी से कुछ अधिक है। यह बादलों से आवृत्त है, और हिसाब लगाने पर पता चलता है कि इसकी भी कलाएँ घटती-बढ़ती हैं। यहाँ वायुमण्डल भी है।

यह ग्रह सूर्य से इतना दूर है कि पृथ्वी के प्रकाश का २५ वाँ भाग ही प्रकाश और गरमी वहाँ पहुँचती होगी। वहाँ से सूर्य बहुत छोटा और विवर्ण दिखाई पड़ता होगा। यद्यपि बृहस्पति पृथ्वी से

बहुत बड़ा है, पर फिर भी यह अपनी धुरी पर १० घण्टे में एक बार घूम लेता है। बृहस्पति अपनी मध्यरेखा पर ५०० मील प्रति मिनट वेग से चलता है, और इतने अधिक वेग के कारण यह बहुत चिपटा हो गया है।

दूरबीन से देखने पर इसकी सतह पर अनेक चिह्न दिखाई देते हैं। इसका लाल और भूरा रङ्ग बहुत ही मनोमोहक प्रतीत होता है। पर इसके पृष्ठ की धारियाँ सदा परिवर्तित होती रहती हैं। एक लाल चिह्न ७५ वर्ष से दिखाई पड़ रहा है, जो ३० हजार मील लम्बा और ७००० मील चौड़ा है। बहुत सम्भव है कि हमें दूर-दर्शक में इसके केवल बादल ही दिखाई देते हैं। एक मत था कि यह पृथ्वी के बराबर अभी कदाचित् ठण्डा नहीं हो पाया है, पर अब पता चला है कि यह बहुत ठण्डा है और इसके बादल पानी के बादल नहीं हैं, प्रत्युत कर्बनद्विओषिद के हैं।

बृहस्पति के ९ चन्द्रमा हैं, जिनमें चार तो हमारे चन्द्रमा के बराबर अथवा कुछ बड़े ही हैं। इनमें से तीन का व्यास और भ्रमणकाल (बृहस्पति का चक्कर लगाने का समय) यहाँ दिया जाता है।

उपग्रह	व्यास	भ्रमणकाल
१ ला	२००० मील	३ दिन १२ घण्टा
३ रा	३५५० ”	७ दिन ३ घण्टा
४ था	२२ ”	६ दिन १८ घण्टा

(९) शनि

अन्य ग्रहों की अपेक्षा शनि का वेग अति कम है, अतः इसे शनि या शनैश्चर नाम दिया गया है, इसका एक चक्कर २९ १/३ वर्षों में लगता है। इसकी चमक भी मैली, धुंधली पीली है। कोरी आँख से देखने पर तो इसमें कोई विशेष शोभा नहीं प्रतीत होती, पर दूरदर्शक से देखने में इसके वलय बड़े ही मनोमोहक प्रतीत होते हैं। ये वलय चिपटी गेंद के चारों ओर बड़ी अंगूठी के समान होते हैं। शनि के अतिरिक्त अन्य ग्रहों में वलय नहीं देखे गये हैं।

शनि का घनत्व पानी से हलका है, पानी का लगभग ७/१० । इसका व्यास पृथ्वी के व्यास का ९॥ गुना है, और तौल ९४ गुनी है। यह सूर्य से बहुत ही अधिक दूर पर है। पृथ्वी की अपेक्षा वहाँ ९०वाँ भाग प्रकाश और ताप पहुँचता होगा। शनि पर सब से सुन्दर वलय की शोभा होगी, साथ ही साथ ९ उपग्रहों की शोभा तो और भी अधिक आकर्षक होगी।

शनि में एक ही वलय नहीं है, प्रत्युत ऐसे तीन वलय हैं। प्रत्येक वलय भी दो भागों में बँटा हुआ है। वलयों का धरातल शनि-कक्षा से झुका हुआ है। हमारी पृथ्वी शनि-कक्षा के धरातल में ही प्रायः रहती है, अतः हमें शनि-वलय का कभी उत्तरी और कभी दक्षिणी भाग दिखाई देता है, और दोनों के बीच में एक ऐसी भी अवस्था आ जाती है जब हमें इसका कोई भी भाग नहीं

दिखाई देता। ऐसे अवसर पर शनि के उपग्रहों का देखना सुगम हो जाता है। शनि के वलय की ये कलायें चन्द्र की कलाओं के समान ही मनोमोहक हैं।

शनि के फोटो से पता चलता है कि इसके किनारे केन्द्र की अपेक्षा कम चमकदार हैं। इससे स्पष्ट है कि यहाँ वायुमंडल भी अवश्य विद्यमान है।
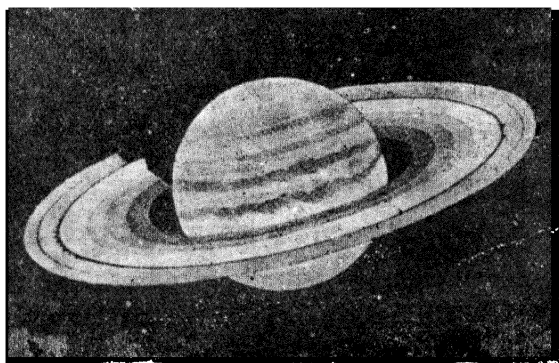
चित्र १—शनि का वलय

(१०) वरुण

प्राचीन ज्योतिषी केवल बुध, शुक्र, पृथ्वी, मंगल, बृहस्पति और शनि – इतने ही ग्रह मानते थे। पर आजकल के ज्योतिषियों ने दो और ग्रहों का पता लगाया है, जिन्हें वे यूरेनस और नेपचून कहते हैं। हम इन्हें वरुण और इन्द्र कहेंगे। सन् १७८१ में विलियम

हरशेल (Herschel) ने वरुण की खोज की थी। इसके पृष्ठ के विषय में अभी बहुत कम और बातों का पता चला है। कदाचित् इसमें भी बृहस्पति और शनि के समान बादल और मेखलायें हों। यह अत्यन्त गरम द्रव का बना हुआ है। इसके भी चार उपग्रह हैं। दो की खोज हरशेल ने की थी और दो की लैसेल ने। यूरेनस में गरमी इतनी कम होगी कि होना न होना सब बराबर है। यूरेनस का अक्ष इसकी कक्षा में ही है, अतः यहाँ की ऋतुएँ बड़ी विचित्र होंगी।

(११) इन्द्र

एडेम्स (Adams) और लेवेरियर (Leverrier) नामक ज्योतिषियों की गणना के अनुसार सन् १८४५ ई० में इसकी खोज की गई। इसके विषय में बहुत कुछ अभी तक ज्ञात नहीं हो सका है। इसके केवल एक उपग्रह का अभी तक पता चला है, जो इससे २२३०० मील की दूरी पर है, और ६ दिन में एक परिक्रमा पूरी कर लेता है।

(१२) प्लूटो या यम

मार्च सन् १९३० ई० में पिकरिङ्ग और लावेल ने आकाश के उसी कोने में, जहाँ हरशेल ने यूरेनस का आविष्कार किया था, प्लूटो नामक एक नये ग्रह की खोज की है। इस ग्रह की गति शनैश्चर की गति से भी कम है। सूर्य के चारों ओर उसकी एक प्रदक्षिणा में ३०० से भी अधिक वर्ष लगते हैं। सूर्य से

६

जितनी पृथ्वी दूर है, उससे ४५ गुना दूरी पर प्लूटो है। इसका प्रकाश नेपच्यून के प्रकाश से १००० गुना मन्द है। आकार में भी यह ग्रह बहुत छोटा है।

अब इन सब ग्रहों का वृत्तान्त यहाँ समाप्त किया जाता है। नीचे की सारिणी में इन ग्रहों की सूर्य से माध्यमिक दूरी दी जाती है।

ग्रह	दूरी
बुध	३८१०००० मील
शुक्र	७२३३०००० ,,
पृथ्वी	९२८२०००० ,,
मंगल	१५२३७०००० ,,
बृहस्पति	५२०२६०००० ,,
शनि	९५५४७०००० ,,
वरुण	१९२१८१०००० ,,
इन्द्र	३०१०९६०००० ,,
प्लूटो	४०००००००००० ,,

इन ग्रहों के अतिरिक्त आकाश-लोक में सहस्रों अन्य भी तारे हैं, जिनका विवरण देना यहाँ सम्भव नहीं है। आकाश का सप्तर्षि-मण्डल जो सात तारों से मिल कर बना हुआ है, सभी ने देखा होगा। यह सप्तर्षि मण्डल ध्रुव तारे की परिक्रमा करता रहता है। ध्रुव तारा सदा उत्तर की दिशा में ही विद्यमान रहता है। रात में अन्य तारे तो अपना स्थान परिवर्तित करते रहते हैं,

चित्र २—सप्तर्षि और कश्यप मण्डल

पर ध्रुव तारा ऐसा है जो सदा अपने स्थान पर अचल रहता है। आकाश में इस प्रकार अचल रहने वाले अन्य तारे भी हैं। पर इन तारों के अचल रहने का यह तात्पर्य कभी नहीं है कि इन तारों में गति होती ही नहीं है। यदि उनमें गति न होती तो पृथ्वी की गति के कारण आकाश में इनका स्थान और इनकी दिशा परिवर्तित होती प्रतीत होती, जैसे कि सूर्य के विषय में है। सूर्य स्वयं अचल है; पर पृथ्वी की गति के कारण यह प्रातःकाल पूर्व में और सायंकाल पश्चिम में दिखाई पड़ता है। ध्रुव तारे की गति पृथ्वी की गति की अपेक्षा इस प्रकार नियमित है कि पृथ्वी चाहे कितनी ही क्यों न घूम गई हो, यह तारा हमें अपनी अपेक्षा से सदा एक ही दिशा में दिखाई पड़ेगा।

आकाश में सप्तर्षि मण्डल या सात तारों का जो समूह ध्रुव की परिक्रमा करता हुआ दिखाई देता है, उसके सात तारों के नाम ये हैं—

१ मरीचि	४ पुलस्त्य
२ अत्रि	५ पुलह
३ अंगिरस्	६ क्रतु

७ वशिष्ट

इस सप्तर्षि मण्डल के अतिरिक्त एक छोटा सा 'कश्यप' मण्डल है, जो ध्रुव तारा को मिलाकर एक और लघुसप्तर्षि बना लेता है। ये तारे बृहत् सप्तर्षि की अपेक्षा मन्द ज्योति के हैं।

———

छठा अध्याय

नीहारिकायें

सृष्टि की रचना कैसे हुई ? क्या हमारी यह ठोस पृथ्वी सर्वदा ऐसी ही थी ? इसमें क्या ये शिलायें और पत्थर, नदी और नाले, समुद्र और पर्वत, वन और मरुस्थल हमेशा से ऐसे ही चले आये हैं ? इस सृष्टि का कभी अन्त होगा या नहीं ? मनुष्य और पशु, वृक्ष और पक्षी सदा ऐसे ही रहेंगे अथवा इनमें भी कोई परिवर्तन होगा ? ये सब प्रश्न ऐसे हैं, जो सब के हृदय में उठते हैं। एक छोटा बच्चा भी चन्द्रमा को देखकर अपने माता, पिता और भाई-बहनों से पूछ उठता है कि इसे किसने बनाया है, यह दिन को कहाँ चला जाता है, और रात को कहाँ से आ जाता है, आकाश में यह किस प्रकार ऊँचा टँगा रहता है और पृथ्वी पर क्यों नहीं गिर पड़ता ? तारों के विषय में भी इसी प्रकार के प्रश्न उठते हैं। ये सहस्रों तारे आकाश में किस प्रकार स्थित हैं और यहाँ से कितनी दूर हैं, या इन तारों में भी हमारी पृथ्वी के समान पशु-पक्षी, मनुष्य और स्त्री, लड़के और लड़कियाँ रहती हैं या नहीं। ये सब प्रश्न नये नहीं हैं। पर प्रश्नों का करना तो बहुत आसान है, इनका सन्तोषजनक उत्तर देना इतना

सरल नहीं है। इनमें बहुत से प्रश्न तो ऐसे हैं जिनका हम कुछ भी उत्तर नहीं दे सकते हैं। और बहुत से प्रश्नों का हम केवल अधूरा उत्तर ही दे पाते हैं। कुछ ही बातें ऐसी अवश्य हैं जिनके विषय में हम निर्भ्रान्त वृत्तान्त बता सकते हैं।

यहाँ हम अब ऐसी एक वस्तु का उल्लेख करेंगे जिससे बहुत कम पाठक परिचित होंगे, पर यह इतने महत्व की है कि यदि इसका अस्तित्व न होता, तो इस सृष्टि का बनना भी सम्भव न था। इन्हें नीहारिका कहते हैं। यह ठोस पृथ्वी सदा ऐसी ही नहीं थी। इसकी उत्पत्ति भी इन्हीं नीहारिकाओं से हुई है। उस अवस्था का विचार कीजिये, जब सम्पूर्ण आकाशमण्डल इन्हीं नीहारिकाओं से आवृत था। जिस प्रकार अन्तरिक्ष में बादल या धुँआ फैला रहता है, उसी प्रकार ये नीहारिकायें सर्वत्र छायी हुई थीं। ये दूर से कोहरा के समान दिखाई देती हैं। जाड़े की ऋतु में आपने देखा होगा कि सूर्योदय के पूर्व और सूर्यास्त के पश्चात् कैसा घना कोहरा छाया रहता है। सृष्टि के आरम्भ में सम्पूर्ण आकाशमण्डल इसी प्रकार के कोहरे से ढका हुआ था। यह कोहरा ये नीहारिकायें ही थीं। इन्हें अङ्गरेज़ी में नेबुला कहते हैं। इन्हीं नीहारिकाओं के घनीकरण से हमारे सौर-मण्डल का जन्म हुआ।

आजकल भी कभी-कभी रात में तारों के समीप कोहरा या धुँआ के समान फैला हुआ एक अंश दिखाई देता है। इसे मन्दाकिनी या आकाश-गङ्गा (milky-way) कहते हैं। पर इसे
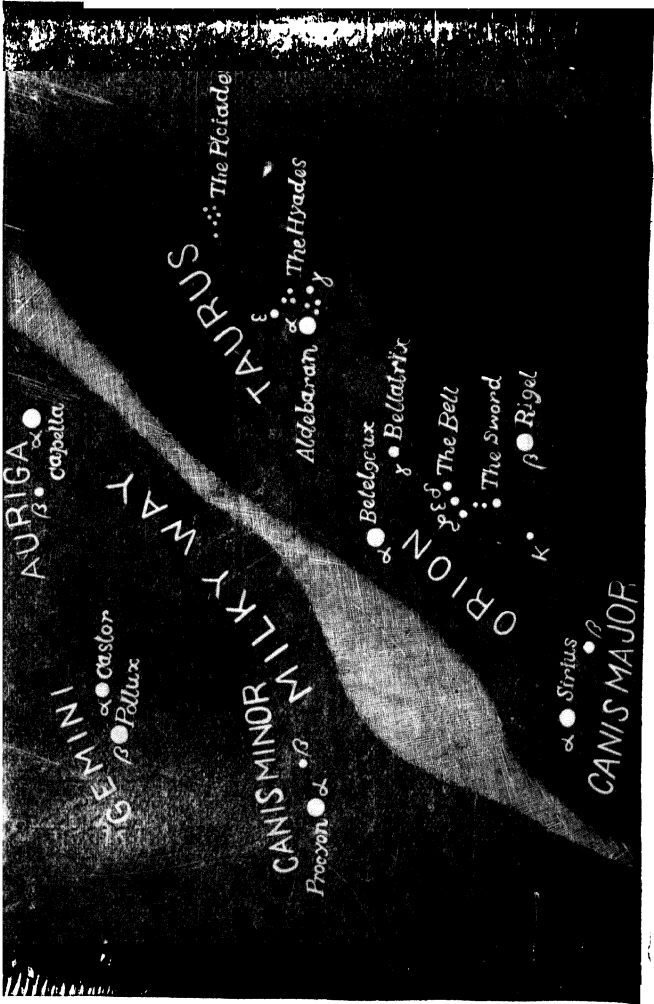
चित्र ३—आकाश-गङ्गा (Milky way)

नीहारिका न समझना चाहिये। यह तो छोटे-छोटे सहस्रों तारों का एक विस्तृत समूह है। ये तारे एक दूसरे के इतने निकट हैं कि दूर से दूध के समान आकाश में फैले दिखायी देते है। बड़ी-बड़ी दूरबीनों से देखने पर पता चलेगा कि इस आकाश-गङ्गा में कुछ तारे बहुत ही छोटे हैं, पर कुछ बड़े भी हैं।

आकाश में नीहारिकाओं का देखना सरल नहीं है। ये विशेषतः उन्हीं स्थानों पर होती हैं, जहाँ तारे बहुत कम संख्या में हैं। कुछ ही नीहारिकायें ऐसी हैं जिन्हें हम आँख से स्पष्ट देख सकते हैं, कुछ ऐसी हैं जिनका फ़ोटोग्राफी द्वारा चित्र उतारने पर ही पता चल सकता है। बहुत सों को हम अच्छे दूरदर्शक यन्त्रों (दूरबीनों) द्वारा ही जान सकते हैं। पर इसका तात्पर्य यह न समझना चाहिये कि आकाश में नीहारिकाओं की संख्या बहुत कम है। दूरदर्शक यन्त्रों द्वारा ५ लाख (५००,०००) के लगभग नीहारिकाओं का पता लगाया गया है। इन नीहारिकाओं में से दो ऐसी अवश्य हैं, जिन्हें स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

आकाश में एक नक्षत्र-समूह मृगशीर्ष (orion) कहाता है। यहाँ दिये गये चित्र में यह दिखाया गया है। इस समूह में तीन नक्षत्र एक सीधी पंक्ति 'अ' में हैं। इस सीधी पंक्ति के नीचे दो नक्षत्र इस प्रकार स्थित हैं कि ऊपर वाली पंक्ति के बीच वाला नक्षत्र और ये दो नक्षत्र जोड़ने पर एक सरल रेखा बनती है। इन दो नीचे वाले नक्षत्रों के बीच में एक हल्का सा प्रकाश-पुञ्ज-

युक्त कोहरे के समान अंश 'न' दिखाई देगा। यह एक नीहारिका है।
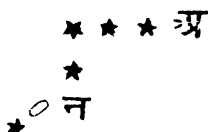
चित्र ४—मृगशीर्ष नीहारिका

भाद्र-पदी या एण्ड्रोमीडा में एक और चमकीली नीहारिका है। चित्र ५ में इसकी स्थिति भी दिखाई गई है। सप्तर्षि-मण्डल आकाश में आसानी से पहचाना जा सकता है। इसका पता लगाकर ध्रुवतारा मालूम करते है। ध्रुवतारा से थोड़ी दूर पर पाँच तारों का एक समूह कैसिओपी (cassiopeia) है। बस इसी कैसिओपी के पास एण्ड्रोमीडा 'ए' का समूह है, जिसमें अलगोल, अलमच, मिरच आदि तारे हैं। अलगोल और अलमच की सीध में ही एण्ड्रोमीडा की नीहारिका है। यह इतनी चमकीली है कि आँखों से देखी जा सकती है।

आँखों से दिखाई देने वाली नीहारिकायें बहुत कम हैं। अवस्था-भेद के अनुसार इन्हें कई भागों में विभाजित किया

जा सकता है। कुछ तो इनमें अँगूठी के आकार की (वलयाकार) होती हैं। कुछ ग्रही- नीहारिकायें कहलाती हैं, जो एक छोटी

चित्र ५—एण्ड्रोमीडा नीहारिका

चपटी तश्तरी के आकार की होती हैं, और इस तश्तरी के चारों ओर हलकी नीहार-ज्योति होती है। कुछ नीहारिकाओं का गठन बिलकुल असम्बद्ध रहता है।

नीहारिकाओं का एक और समूह है, जिसका गठन सर्पिल आकार का होता है। जिस प्रकार सर्प की कुण्डलियां होती हैं, उसी प्रकार ये नीहारिकायें चक्कर लगाती हुई दिखाई देती हैं। यह सबने देखा होगा कि जब धुँआ सीधा ऊपर जा रहा हो और उसी समय यदि हवा का हलका झोंका आ जाय तो वह धुँआ भी सर्प की कुण्डली के आकार में नाचता हुआ ऊपर चढ़ेगा। सर्पिलाकार नीहारिकाओं में भी इसी प्रकार का परिभ्रमण होता है। लार्ड रोज़े के प्रबल दूरदर्शक यन्त्र द्वारा इन नीहारिकाओं की सर्वप्रथम खोज की गई थी। ये नीहारिकायें सर्वत्र एकसी ही घनी नहीं हैं। कहीं तो अधिक घनी हो गई हैं और कहीं पर कम। ऐसा प्रतीत होता है कि कहीं पर चमकीली घनी गाँठें और कहीं छोटी हलकी गाँठें हैं। ये गाँठें विशेष महत्व की हैं और ऐसा अनुमान किया जाता है कि इन गाँठों से ही ग्रहों की उत्पत्ति होती है। जब ये गाँठें घनी हो जाती हैं तो वह ग्रहों का रूप धारण कर लेती हैं। साँप की कुंडली के समान ये सब गाँठें एक चमकीले केन्द्र के चारों ओर घूम रही हैं। यह चमकीला केन्द्र ही बाद को सूर्य हो जाता है और गाँठें ग्रहों के रूप में इस सूर्य्य के चारों ओर चक्कर लगाने लगती हैं। समस्त सौर-साम्राज्य की उत्पत्ति इस प्रकार हो जाती है।

इन सर्पिलाकार नीहारिकाओं की वर्तमान स्थिति इस बात का प्रमाण है कि हमारे इस सौर-मण्डल के समान कई नये और सौर-मण्डल बन रहे हैं। यह अभी पूरे नहीं बन पाये हैं, पर लाख-

दो लाख या करोड़ दो-करोड़ वर्षों में ही इन नीहारिकाओं से अनेक नये सूर्य्यों और उनके चारों ओर घूमने वाले नये ग्रहों की उत्पत्ति हो जायगी। हमारे सौर-साम्राज्य का भी इसी प्रकार जन्म हुआ था। नीहारिकाओं के बाहरी भाग में घनीकरण आरम्भ हुआ। इनमें कई गाँठें उत्पन्न हो गईं जो और घनी होकर बुध, बृहस्पति, पृथ्वी, मंगल, शनि आदि नक्षत्र बन गईं। नीहारिकाओं के अन्दर का चमकीला भाग सूर्य्य में परिणत हो गया।

पर यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि वस्तुतः वह नीहारिका किस प्रकार की थी जिससे इस पृथ्वी का जन्म हुआ है। लार्ड रोजे के दूर-दर्शक यन्त्र द्वारा यह पता चला है कि बहुत सी नीहारिकायें तो केवल छोटे-छोटे तारों का समूह ही हैं, जो परस्पर में अति निकट तथा हमसे बहुत दूर होने के कारण धुँए के रूप में दिखाई देती हैं। सड़क के किनारों पर जलते हुए बिजली के लैम्प या दीपमालिका के दिन छतों पर रखे हुए दीपक दूर से देखने में बिलकुल एक दूसरे से मिले हुए दिखाई देते हैं। बस इसी प्रकार बहुत से ऐसे समूह, जो पहले नीहारिका समझे जाते थे, प्रबल दूरदर्शकों द्वारा केवल तारों के समूह ही रह गये है। सम्भव है कि बहुत से वे समूह जिन्हें हम आजकल नीहारिका समझते हैं, वे भी तारे ही हों।

सर विलियम ह्यूगिन्स (Huggins) ने यह दिखा दिया है कि यद्यपि कुछ नीहारिकाओं में वैसे ही पदार्थ हैं जैसे कि तारों में, पर कुछ नीहारिकाओं का गठन इनसे बहुत ही भिन्न है।

ये वायव्य या गैस रूप हैं। सन् १७९६ ई० में प्रसिद्ध फ्रान्सीसी ज्योतिर्विद् लाप्लास ने इन नीहारिकाओं के विषय में यह मन्तव्य प्रकाशित किया था कि ये गैस के बादल हैं, जो कि इतने गरम हैं कि वे चमकने लगते हैं। यदि आप लोहे के टुकड़े को गरम करें तो थोड़ी देर तक तो वह पूर्ववत् काला ही दिखाई देगा, पर और अधिक गरम करने पर वह लाल रूप में चमकने लगेगा। यदि भट्टी में बहुत प्रचंडता से तपाया जाय तो यही फिर श्वेत रूप में चमकने लगेगा। यह अवस्था ठोस पदार्थ की ही नहीं, प्रत्युत द्रव और गैस पदार्थों की भी है। प्रचंडता से गरम करने पर ये भी चमकने लगते हैं। नीहारिकाओं के ज्योतिर्मय होने का भी यही कारण है। लाप्लास के सिद्धान्त के अनुसार यह ज्योतिर्मय अंश अपने केन्द्र के चारों ओर लट्टू के समान नाच रहा है। इसका बाहरी भाग धीरे-धीरे ठंडा होता जाता है। ठंडा होने से सिकुड़न (संकोचन) आरंभ होती है, जिसके कारण कुछ अंश घना होकर भिन्न-भिन्न वलयों या मुद्रिकाओं के रूप में पृथक हो जाता है। बस इन्हीं से ग्रहों की उत्पत्ति होती है। लाप्लास का इसी प्रकार का सिद्धान्त था।

लाप्लास के इन विचारों की पुष्टि अन्य वैज्ञानिकों के प्रयोगों द्वारा भी हुई। इस नीहारिका-सिद्धान्त के अनुसार जो भिन्न-भिन्न अवस्थायें होनी सम्भव हैं, वे सब फ़ोटोग्राफ़िक प्रयोगों द्वारा वस्तुतः चित्रित कर ली गई हैं। सन् १८८७ ई० में डा० आइज़क रोबर्ट्स ने एण्ड्रोमीडा-नीहारिका की फ़ोटो ली। उस चित्र द्वारा

यह प्रकट होता है कि यह नीहारिका चपटी गोल तश्तरी के आकार की है, इसके केन्द्र में एक चमकता हुआ ज्योतिर्मय भाग है, पर इसका बाहरी भाग केन्द्र भाग की अपेक्षा कम चमकीला है। यह बाहरी भाग वलय या मुद्रिकाओं में विभाजित होता जा रहा है। जहाँ कहीं भी वलयों के बाहरी भाग में से अन्दर की ओर कुछ देखा जा सकता है, वहाँ यह स्पष्ट पता चलता है कि अन्दर कुछ घने अंश बन रहे हैं, जो सम्भवतः भविष्य में ग्रहों का रूप धारण कर लेंगे।

यह बात तो ठीक है कि लाप्लास के अनुमान के अनुसार नीहारिकायें वलयों में परिणत हो रही हैं, पर लाप्लास का अनुमान था कि इन नीहारिकाओं में लट्टू के समान प्रबल गति भी होगी। सर्पिलाकार नीहारिकाओं में केन्द्र के चारों ओर कुछ गति अवश्य पाई गई है, पर उतनी नहीं जितना लाप्लास समझता था। जी० पी० बौण्ड ने सन १८४८ ई० में नीहारिका का एक चित्र लिया, पर उस चित्र में भी सब स्थलों की आपेक्षिक स्थिति वैसी ही थी जैसी कि बाद में इसी नीहारिका के लिये गये चित्रों में मिली। इससे पता चलता है कि नीहारिकाओं की भ्रमण-गति बहुत ही कम है। यदि गति अधिक होती तो कुछ अंशों की आपेक्षिक स्थिति में अवश्य अन्तर मिलता।

दूरदर्शक यन्त्र द्वारा जो कुछ नीहारिकाओं के विषय में ज्ञात हो सकता था, उसका अब तक उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त भौतिक शास्त्रवेत्ताओं के पास एक और उपयोगी साधन

है, जिसके द्वारा नीहारिकाओं की परीक्षा की जा सकती है। इस परीक्षा का नाम है 'किरणचित्रण'। इस परीक्षा द्वारा पाये गये परिणामों का उल्लेख करने के पूर्व यह बता देना उपयोगी है कि यह किरणचित्रण विधि क्या है।

बहुत से पाठकों ने फ़ानूसी शीशे अवश्य देखे होंगे। पुराने समय में बड़े-बड़े घरों में रात को सुन्दर रोशनी करने में झाड़-फ़ानूसों का बहुत उपयोग होता था। जिस समय दीपक जलते थे और प्रकाश इन फ़ानूसों पर पड़ता था तो रङ्ग-बिरङ्गी ज्योतियाँ निकल कर कमरे की शोभा को बढ़ा देती थीं। फ़ानूसी शीशों का काम यह है कि यदि श्वेत प्रकाश इनमें होकर जावे तो वह कई रङ्गों में विभाजित हो जाता है। यह विभाजन किसी भी तिकोने ठोस काँच से हो सकता है। इस विभाजन के लिये फ़ानूस के समान सुडौल तिकोना पदार्थ जिसे त्रिपार्श्व (Prism) कहते हैं, बनाया गया है। जब रोशनी इसमें होकर जाती है, तो वह रङ्गों में विभाजित हो जाती है। जिस प्रकार के रङ्ग इन्द्रधनुष में दिखाई पड़ते हैं, उसी प्रकार के रङ्ग त्रिपार्श्व में भी दिखाई देते हैं। ये रङ्ग कासनी, नील, आसमानी, हरा, पीला, नारङ्गी और लाल होते हैं। सफ़ेद वस्तु त्रिपार्श्व (या फ़ानूसी शीशे में) से देखने पर इन रङ्गों द्वारा विरंजित दिखाई देती है। इस प्रकार की जो रङ्गीन पट्टी प्राप्त होती है उसे किरणचित्र (Spectrum) कहते हैं। इस प्रकार के किरण-चित्र तरह-तरह की रोशनी के लिये अलग-अलग होते हैं।

सूर्य्य के प्रकाश का किरणचित्र और प्रकार का होगा और चन्द्रमा के प्रकाश का चित्र और प्रकार का होगा। हर एक तारे की रोशनी भी एक सी नहीं होती है। अतः प्रत्येक तारे का किरणचित्र भी पृथक्-पृथक् होता है।

ज्योतिषियों ने तरह-तरह के किरण-चित्र-दर्शक यन्त्र बनाये हैं। जिनसे सुविधानुसार भिन्न-भिन्न तारों की ज्योति की परीक्षा की जा सकती है। साधारणतया किरण-चित्र तीन प्रकार के होते हैं :—

(१) पटट्टेदार किरणचित्र
(२) काली रेखाओं का किरणचित्र
(३) चमकीली रेखाओं का किरणचित्र
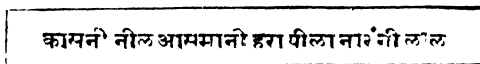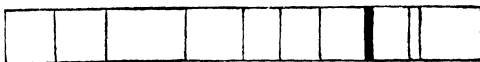
चित्र ६—किरणचित्र

ऊपर कहा जा चुका है कि जब किसी ठोस, द्रव, या गैस पदार्थ को प्रचंड ताप दिया जाता है तो यह ज्योतिर्मय हो जाता

है, अर्थात् चमकने लगता है। लोहा, ताँबा, चाँदी, सोना आदि सभी भट्टी में ख़ूब गरम करने पर चमकते हुए दिखाई देते हैं। पर इनमें से हर एक पदार्थ की ज्योति भिन्न-भिन्न तरह की होगी। अतः इनके किरणचित्र भी अलग-अलग तरह के होंगे। इनकी ज्योति की किरणचित्र-दर्शक यन्त्र द्वारा परीक्षा करने पर पट्टीदार किरणचित्र प्राप्त होता है। अर्थात् चित्र में लाल, हरे, पीले, नीले आदि रंगों की एक दूसरे से मिली हुई बराबर पट्टियाँ होंगी। हर एक पदार्थ की ज्योति के लिये अलग-अलग तरह की पट्टियाँ होती हैं। ठोस, द्रव और घनी गैस वाले पदार्थों का किरणचित्र (चित्र ३, क) पट्टीदार होता है। पर यदि हलकी गैस को तप्त करके ज्योतिर्मय बनाया जाय और फिर इसका किरणचित्र लिया जाय तो एक दूसरे से हटी हुई रङ्गदार चमकीली रेखायें ही किरणचित्र में मिलेंगी (चित्र ३ ग)। इस प्रकार का किरणचित्र चमकीली रेखा का किरणचित्र या केवल रेखा किरणचित्र कहलाता है। किरणचित्र में इन रेखाओं का स्थान विशेष महत्व का है। प्रत्येक तत्व की रेखा के लिये विशेष-विशेष स्थान नियुक्त है, अतः रेखाओं का स्थान मालूम कर लेने से पता चल सकता है कि ज्योति किस तत्व से आ रही है। इस प्रकार हर एक तारे की ज्योति का रेखा-चित्र मालूम होने पर यह पता चल सकता है कि उस तारे में कौन-कौन तत्व विद्यमान हैं।

काली रेखाओं का किरणचित्र 'शोषण चित्र' भी कहलाता है। इस किरणचित्र में रङ्ग की पट्टियों के ऊपर कहीं-कहीं काली

रेखायें दिखाई पड़ती हैं (चित्र ३, ख)। काली रेखायें कैसे पैदा होती हैं ? मान लीजिये कि किसी ज्योतिर्मय वस्तु से लाल, पीली, और नारङ्गी रेखाओं की किरणें चल रही हैं। बीच में यदि इन किरणों को कोई ऐसा पदार्थ मिला जिसने नारङ्गी रेखा वाली कुछ किरणों को सोख लिया (शोषण कर लिया) तो फिर आप इन रेखाओं का चित्र किरणचित्र में न पावेंगे। इनके स्थान में केवल काली रेखायें रह जावेंगी। इन काली रेखाओं की स्थिति से पता चलता है कि अमुक तारे से निकली हुई ज्योति का कुछ अंश किन्हीं अन्य पदार्थों द्वारा शोषित हो गया है। इस प्रकार यह पता चल सकता है कि उक्त तारे के चारों ओर किस पदार्थ की वाष्पें घिरी हुई थीं, जिन्होंने कुछ रश्मियों का शोषण कर लिया है।

सूर्य्य का किरणचित्र लेने पर शोषण-किरणचित्र अर्थात् काली रेखाओं का किरणचित्र मिलता है, क्योंकि इसके केन्द्र में तो घनी ज्योतिर्मय गैसें हैं, जिनके कारण पट्टीदार रश्मिचित्र मिलना चाहिये। पर इस केन्द्र के चारों ओर अन्य अनेक तत्वों की हलकी वाष्पें हैं जो केन्द्र से आई हुई ज्योति की कुछ रेखाओं का शोषण कर लेती हैं, अतः काली रेखा वाला किरणचित्र ही प्राप्त होता है। कुछ तारे जैसे ब्रह्महृदय (केपेला) भी इसी प्रकार का किरणचित्र देते हैं।

इस किरणचित्रण विधि का उपयोग नीहारिकाओं की ज्योति की परीक्षा में भी करना चाहिये। पर इनके विषय में एक बड़ी

कठिनाई यह होती है कि नीहारिकाओं की ज्योति बहुत ही क्षीण है। सर विलियम ह्यूजिन्स ने सन् १८६४ में सबसे पहले यह बात प्रदर्शित की कि प्रत्येक नीहारिका रेखा-किरणचित्र देती है। अर्थात् इसके किरणचित्र में अनेक चमकीली रेखायें होती हैं। रेखा-किरणचित्र का होना ही यह बताता है कि नीहारिका हलकी ज्योतिर्मय गैसों से बनी हुई है, क्योंकि यदि ठोस या द्रव ज्योतिर्मय पदार्थ होता तो पट्टीदार किरणचित्र मिलना चाहिये था। लाप्लास का सिद्धान्त भी नीहारिका के विषय में यही बताता है। इन चमकीली रेखाओं की स्थिति से ह्यूजिन्स ने यह अनुमान किया कि नीहारिकाओं में तीन तत्त्व उपस्थित हैं—(१) हिमजन (हीलियम्), (२) उदजन (हाइड्रोजन) और एक अज्ञात तत्व जिसे नीहारिकम् या नेबूलियम् नाम दिया गया।

सर विलियम ह्यूजिन्स के प्रयोगों के पश्चात् नीहारिकाओं के किरणचित्र की विस्तृत परीक्षा आरम्भ हुई। उस परीक्षा के अनुसार नीहारिकाओं को दो भागों में विभाजित किया गया। पहले विभाग में वे नीहारिकायें रखी गईं, जिनसे एक हलका-पट्टीदार किरणचित्र मिला, जिसके ऊपर चमकीली रेखायें भी थीं। ये रेखायें उपर्युक्त तीन तत्त्वों की थीं। पाँच सौ के लगभग नीहारिकाओं में ये ही तत्त्व थे। ये नीहारिकायें ज्योतिर्मय वायव्य पदार्थों की बनी थीं।

दूसरे विभाग में उन नीहारिकाओं को स्थान मिला जिन्होंने शोषण-किरणचित्र अर्थात् काली रेखाओं वाला किरणचित्र दिया।

ये नीहारिकायें सूर्य्य के समान मानी जा सकती हैं। इन्हें तारों का समूह समझना चाहिये, कम से कम किरणचित्र द्वारा तो तारों में और इन नीहारिकाओं में भेद नहीं मालूम पड़ सकता है। एण्ड्रोमीडा की पूर्वोक्त नीहारिका और अन्य सर्पिल नीहारिकायें भी इसी प्रकार का किरणचित्र देती हैं। सर राबर्ट बाल का कहना है कि सर्पिल नीहारिकायें वायव्य रूप में नहीं हैं। ये मुख्यतः पट्टीदार किरण-चित्र देती हैं जिनमें बहुत कम शोषण रेखायें होती हैं। इससे पता चलता है कि अधिकतर नीहारिकाओं का बाहरी भाग अन्दर के भाग से ठण्डा है और इस बात में ये सूर्य और तारों के समान हैं। पहले विभाग की नीहारिकाओं से चमकीली रेखा का किरण-चित्र मिला था, अतः उन नीहारिकाओं का बाहरी भाग अत्यन्त तप्त ज्योतिर्मय वायव्य पदार्थों का बना हुआ है। यह भी होना सम्भव है कि पहले विभाग की नीहारिकायें ही ठण्डी होने पर दूसरे विभाग की नीहारिकायें बन जाती हों।

———

उल्का (Meteorites)

नीहारिकाओं का उल्लेख करते हुए यह कहा जा चुका है कि लाप्लास के सिद्धान्त के अनुसार सौर-जगत् का आरम्भ इन्हीं नीहारिकाओं के घनीकरण द्वारा होता है। सर विलियम ह्यूजिन्स के किरण-चित्र सम्बन्धी प्रयोगों द्वारा यह भी दिखाया जा चुका है कि ये बहुत सी नीहारिकायें वाष्प रूप में विद्यमान हैं और ज्योतिर्मय हैं। लार्ड केल्विन ने यह अनुमान लगाया है कि इन वाष्पों का घनत्व हवा के घनत्व का १० लाखवाँ भाग ही है। अब प्रश्न यह है कि इतने कम घनत्व वाली वस्तु अपनी ज्योति तथा ताप इतने अधिक समय तक कैसे स्थित रख सकती है। होना तो यह चाहिये था कि इसका सब ताप थोड़ी ही देर में विकीर्ण हो जाता और वे नीहारिकायें ठण्डी पड़ जातीं।

इस समस्या के हल करने के लिये सर नारमन लौकयर ने उल्काओं का सिद्धान्त प्रस्तुत किया और प्रोफ़ेसर टी० सी० चैम्बरलेन ने इसी सिद्धान्त को विशेष रूप से पुष्ट किया। लौकयर और चैम्बरलेन के सिद्धान्त ने नीहारिकाओं के गठन को एक नया ही रूप प्रदान किया। इनके मतानुसार ये नीहारिकाये ज्योतिर्मय

वाष्पों या गैसों की बनी हुई नहीं हैं। इनका कहना है कि इनका निर्माण छोटे-छोटे उल्काओं के समूहों से हुआ है। हमारे पाठकों ने निर्मलरात्रि में इन उल्काओं को टूटते हुए अवश्य देखा होगा। कभी-कभी आपको शैय्या पर लेटे हुए दिखाई पड़ा होगा कि तारे के समान चमकती हुई कोई वस्तु अकस्मात् टूट कर पृथ्वी पर गिरी चली आ रही है और थोड़े ही समय में अदृश्य हो जाती है। ये चमकीली वस्तुएँ ही उल्कायें हैं। इनके गिरने को उल्कापात कहते हैं। लौकयर का कहना यह है कि नीहारिकायें इन्हीं उल्काओं की बनी हुई हैं।

सामान्यतः ये उल्का काले और ठण्डे होते हैं, पर जिस समय ये पृथ्वी के वायुमण्डल में पहुँचते हैं, तो घर्षण (रगड़) द्वारा इनमें प्रचण्ड ताप उत्पन्न हो जाता है और तब ये तारों के समान चमकने लगते हैं। इसी रगड़ द्वारा पिस कर चूर्ण हो जाते हैं। अतः इस विचार के अनुसार हमें यह मानना पड़ता है कि नीहारिकाओं में इन उल्काओं के असंख्य समूह आपस में टकराते हैं और पारस्परिक रगड़ के कारण ये गरम हो जाते हैं, और इस गरमी से इनका कुछ अंश वाष्पीभूत हो जाता है। यह वाष्प ही अत्यन्त ताप के कारण ज्योतिर्मय हो जाती है। थोड़े समय में यह वाष्प अपना ताप विकीर्ण करके ठण्डी पड़ जाती है। पर इसी समय उल्काओं के शेष ठोस अंश फिर परस्पर टकराते हैं और इनका फिर कुछ अंश ज्योतिर्मय वाष्पों में परिणत हो जाता है। इस प्रकार यह प्रक्रिया बार-बार होती रहती है और

इस कारण ये नीहारिकायें सहस्रों वर्षों तक ज्योतिर्मय रह सकती हैं।

लालास और लौकयर के सिद्धान्त में यही भेद है कि लालास तो आरम्भ से ही नीहारिकाओं को वाष्प रूप में मानता है, पर लौकयर का कहना यह है कि ये वस्तुतः तो ठोस उल्काओं से बनी हैं, पर पारस्परिक सङ्घर्ष द्वारा इन उल्काओं का कुछ अंश वाष्प में परिणत हो जाता है। उल्का स्वयं ठण्डे हैं, पर रगड़ के कारण उत्पन्न वाष्पें प्रचण्ड ताप के कारण ज्योतिर्मय हो जाती हैं। वे वाष्पें रगड़ से बराबर पैदा होती रहती हैं, और शीघ्र ही बुझ कर शीतल पड़ती जाती हैं, पर इनकी उत्पत्ति और ज्योतिर्हीन होने का यह क्रम बराबर चलता रहता है।

सर नारमन लौकयर के मतानुसार सम्पूर्ण सौर-मण्डल इन्हीं उल्काओं के घनीकरण से बना हुआ है। एक ऐसे समय की कल्पना कीजिये, जब कि समस्त ब्रह्माण्ड इन्हीं उल्काओं से आवृत्त था। ये उल्का एक प्रकार से सर्वव्यापक थे। जिसको हम शून्य आकाश कहते हैं, वह कहीं भी न था। कालान्तर में इन्हीं उल्काओं का घनीकरण आरम्भ हुआ और यह सौर-जगत् उत्पन्न होगया।

ये उल्का किस पदार्थ के बने हुए हैं और इनकी अवस्था क्या है, यह भी जानने योग्य बात है। ये ठोस पदार्थ हैं और यहाँ तक आते-आते इतने ठण्डे हो जाते हैं कि वायु द्वारा सङ्घर्षित होने पर भी गिर पड़ने के कुछ घण्टों के बाद ही इनमें इतनी गरमी आती

है कि ये हाथ से उठाये जा सकें। इनमें कुछ उल्का तो इसी सौर-मण्डल के होते हैं, पर कभी-कभी कुछ उल्का सौर-मण्डल के बाहर से भी यहाँ आ जाते हैं। इनमें से कुछ तो सूर्य की परिक्रमा लगाते हैं। अतः चैम्बरलेन के शब्दों में इन्हें सूक्ष्म-ग्रह (planetesimal) कह सकते हैं, पर इनके भ्रमणपथ साधारण ग्रहों की अपेक्षा भिन्न होते हैं। हम इन उल्काओं को तब तक नहीं देख सकते, जब तक वे हमारे वायुमण्डल में प्रवेश न करलें। वायुमण्डल में इनका वेग ८ मील से लेकर ७० मील प्रति सैकेण्ड तक होता है। वायु द्वारा सङ्घर्षित होकर ये चमकने लगते हैं। अमावस्या के दिन निर्मल रात्रि में या कृष्ण-पक्ष के किसी और दिन जिस समय चन्द्रमा न दिखाई दे रहा हो, प्रति घण्टे आठ-दस उल्का गिरते हुए दिखाई देंगे। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि प्रति दिन हमारे वायुमण्डल में २ करोड़ के लगभग ऐसे उल्का प्रवेश करते हैं जिन्हें हम आँखों से देख सकते हैं।

इनके अतिरिक्त ऐसे भी बहुत से सूक्ष्म उल्का होंगे जिन्हें हम बिना दूरबीन की सहायता के नहीं देख सकते। सर नारमन लौकयर के कथनानुसार प्रतिदिन पृथ्वी पर ४००,०००,००० (चालीस करोड़) उल्काओं का पतन होता है। इनमें से कुछ तो मटर के दाने के बराबर होते हैं और कुछ ५०० से १००० सेर तक के भारी होते हैं। पर इन सबका औसत भार इतना कम होता है कि दस लाख वर्ष में भूमि के पृष्ठ-तल में केवल $\frac{१}{१०००}$ इञ्च की ही वृद्धि होने पाती है।

भारतवर्ष में ऐसे उल्का बहुत गिरा करते हैं। हमारे पुराने ग्रन्थों में उल्कापात का नाम 'अशनिपात' (या बिजली गिरना) भी है। किसी-किसी रात में उल्कापात की झड़ी सी लग जाती है, जिसे देखने से बड़ा भय मालूम होता है। इनका गिरना इस देश में अशुभ माना जाता है। कभी-कभी इनके गिरने से मनुष्यों की मौत भी हो जाती है और मकानों को भी क्षति पहुँचती है।

उल्कापात सभी महीनों में एकसा नहीं होता। किसी महीने में अधिक और किसी में कम। भारतीयों का ऐसा विचार है कि नवम्बर की १५ तारीख़ के लगभग अधिक उल्का गिरते हैं। अगस्त की १०वीं तारीख़ के निकट भी अधिक उल्का-पात होता है।

उल्का दो प्रकार के होते हैं। अधिकांश उल्का और विशेष-कर वे जो आकार में बड़े हैं, लोहे के बने होते हैं और इनमें ६% से १०% तक नक़लम् (निकल) धातु भी होती है। इनमें मगनीसम् आदि धातुएँ भी होती हैं। दूसरे प्रकार के उल्काओं में ऐसे क्षारीय पदार्थ होते हैं, जो शिलाओं में पाये जाते हैं। इनमें फैल्सपार (पांशुज-स्फटशैलेत), ओलिविन (मगनीस शैलेत) और क्रोमाइट खनिज भी पाये जाते हैं।

बहुत से उल्काओं में कर्बन द्विओषिद, कर्बन एकौषिद, नोष-जन, उदजन आदि गैसें भी होती हैं।

यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इन उल्काओं का आदि जन्म कहाँ से होता है। आरहीनियस का विचार है कि सूर्य से गोल-गोल कण छूटा करते हैं, जिनका घनीकरण होने से उल्का बन जाते हैं।

आठवाँ अध्याय

धूमकेतु (Comets)

धूमकेतु भी ज्योतिर्मय सृष्टि के कौतूहलप्रद अंश हैं। इन्हें पुच्छल तारा भी कहते हैं। इनमें एक चमकीला दिव्य केन्द्र होता है और जब ये सूर्य के निकट आ जाते हैं तो इनमें लम्बी चमकदार पूँछ भी निकल आती है। कुछ धूमकेतु तो सूर्य की परिक्रमा करते रहते हैं। कुछ सूर्य के अति निकट प्रतीत होते हैं, पर थोड़ी ही देर में फिर एकदम सूर्य से दूर भाग जाते हैं। ये धूमकेतु परवलय (Parabola) पथ में चलते हैं।

धूमकेतुओं और उल्काओं में भी बड़ा सम्बन्ध है। कभी-कभी तो धूमकेतु ही उल्का-समूह में परिणत हो जाते हैं। बीला (Biela) के धूमकेतु के विषय में यह कहा जाता है कि पहले तो यह सूर्य की परिक्रमा लगाता रहा और सन् १७७२ से सन् १८५२ के बीच में ६.६७ वर्षों के अन्तर से यह सदा दृष्टिगोचर होने लगा। पर अन्तिम बार यह दो भागों में टूट गया। जब दूसरे बार इसके देखने की बारी आई तो यह धूमकेतु तो न दिखाई दिया, पर इसके स्थान में उल्काओं का समूह ही दृष्टिगत हुआ। इससे यह अनुमान लगाया गया है कि वह धूमकेतु ही इन उल्काओं में परिणत हो गया है।

इन धूमकेतुओं के नाम उनके आविष्कर्त्ताओं के नाम पर पड़े हैं। बीला ने जिस धूमकेतु को सब से पहले देखा वह बीला का

[सौर-परिवार से

चित्र ७—ब्रुक्स धूमकेतु

यह केतु सन् १९११ का है। इससे निकलती हुई रश्मियाँ देखो।

धूमकेतु कहलाता है। भारतीय ज्योतिष-शास्त्र में पितामह धूमकेतु, उद्दालक धूमकेतु, काश्यप धूमकेतु आदि का उल्लेख पाया जाता है। इन तीनों धूमकेतुओं के भगणकाल (अर्थात् सूर्य की परिक्रमा करने का समय) क्रमशः ५०० वर्ष, ११० वर्ष और १५०० वर्ष बताया गया है।

पाश्चात्य ज्योतिषियों के खोजे हुए धूमकेतुओं में हैली (Halley) का धूमकेतु, एंकी (Enkei) का धूमकेतु, डोनाटी (Donetee) का धूमकेतु और टेम्पल (Tempel) का धूमकेतु अधिक प्रसिद्ध हैं। हैली के धूमकेतु का भगणकाल ७६ वर्ष के लगभग है। यह सन् १८३५ और १९१० में दिखाई दिया था, अब सन् १९८५ में फिर दिखाई देगा। एंकी का धूमकेतु ३ वर्ष ४ मास के अन्तर पर ही दिखाई देता है। डोनाटी का धूमकेतु सन १८५८ में दिखाई पड़ा था, पर अब उसका कहीं पता नहीं है। टेम्पल का धूमकेतु अब तो उल्का-समूहों में परिणत हो गया है, और यह उल्काराशि ३३$\frac{1}{3}$ वर्ष के अन्तर से दिखाई पड़ा करती है। सन् १९१० में टाइरोल स्थान पर एक उल्का गिरा था, जिसके विषय में यह अनुमान है कि यह हैली के धूमकेतु का अंश था।

धूमकेतुओं का उल्काओं में परिणत हो जाना यह बताता है कि दोनों एक ही पदार्थ के बने हुए हैं। अब एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इन धूमकेतुओं में ज्योति कहाँ से आती है। नीहारिकाओं की ज्योति के विषय में लोगों का विचार यह था कि

वे ज्योतिर्मय गैस के बने हुए हैं। यही कल्पना धूमकेतुओं के विषय में भी की गई। पर यह कल्पना स्वीकार करना कठिन हो है, क्योंकि इतनी हलकी गैसें इतना अधिक ताप अधिक काल तक स्थिर नहीं रख सकती हैं, और दूसरी आपत्ति यह है कि इन हलकी गैसों के लिये यह सम्भव नहीं है कि वे सूर्य की ओर इतने

चित्र ८—सन् १८८२ का पुच्छलतारा

[सौर-परिवार से

प्रबल वेग से दौड़ सकें, जितने से कि धूमकेतु सूर्य के समीप आते और आकर फिर हट जाते हैं।

ज्योतिषियों ने जिस कल्पना को आजकल स्वीकार किया है

वह यह है कि धूमकेतुओं की ज्योति विद्युत् प्रभाव के कारण है। सूर्य द्वारा धूमकेतु के कणों पर एक प्रकार का विद्युत् सञ्चार उत्पन्न होता है, जिससे ये चमकने लगते हैं। ह्यूजिन्स ने सन् १८७४ ई० में इस धारणा को जन्म दिया था और बाद के प्रयोगों से इसकी पुष्टि हो गई।

सर विलियम ह्यूजिन्स ने सन् १८८१ में धूमकेतु के किरण-चित्र की परीक्षा की। इस चित्र में कुछ तो पट्टीदार चित्र मिला जो कि सूर्य के परावर्तित प्रकाश द्वारा पैदा हुआ था। इसके अतिरिक्त चित्र में चमकीली रेखाएँ भी मिलीं, जिससे यह अनुमान लगाया जाता है कि धूमकेतु में वाष्पें भी विद्यमान हैं। ये चमकीली रेखाएँ दो भागों में विभक्त की जा सकती हैं। एक भाग की रेखाएँ सैन्धकम् तत्व की विद्यमानता की सूचक हैं और दूसरे प्रकार की रेखाएँ उद-कर्बन पदार्थों (अर्थात् कर्बन और उदजन के बने हुए पदार्थों) की सूचक हैं।

———

नवाँ अध्याय

पृथ्वी का इतिहास

यह कहा जा चुका है कि आधुनिक सिद्धान्त के अनुसार सौर-जगत् की उत्पत्ति उल्काओं और नीहारिकाओं से हुई है। परन्तु वर्तमान रूप प्राप्त करने में भी इस पृथ्वी ने लाखों वर्ष लिये होंगे। पृथ्वी के निर्माण का इतिहास भी कई कालों में विभक्त किया गया है। भारतवर्ष के नैतिक इतिहास के तीन बड़े-बड़े भाग किये जाते हैं। प्राचीन-कालीन इतिहास, मध्यकालीन और आधुनिक। इसी प्रकार सुविधा के लिये पृथ्वी के ऐतिहासिक समय को ५ बड़े-बड़े कालों में विभाजित किया गया है। प्रत्येक काल के फिर कई छोटे-छोटे और विभाग किये गये हैं, जिन्हें 'खंड' कहते हैं। अगले पृष्ठ पर इसका विवरण दिया गया है।

समस्त ऐतिहासिक समय ५ ऐतिहासिक कालों या १६ खंडों में विभाजित किया गया है। पहले काल को आदि-काल इसलिये कहते हैं कि इसमें जीवन का प्रथमतः आरम्भ हुआ था। दूसरा काल पुरातन काल कहलाता है। इसमें विचित्र प्रकार के जीवों की उत्पत्ति होने लगी। जीवन में इस काल से परिवर्त्तन आरम्भ होने लगा। इसके बाद प्राचीन काल आया जिसमें प्राचीन समयों के जीवों की सृष्टि हुई। माध्यमिक काल में इस प्रकार के पशु और वृक्ष पाये जाते हैं जिनकी अवस्था प्राचीन

और आधुनिक काल के जीवों के बीच की है। अन्तिम काल आधुनिक काल है, जो अभी चल रहा है। यह ऐतिहासिक विभाग पशु-पक्षियों और वनस्पति-जगत की अवस्थाओं के अनुसार किया गया है।

भौगर्भिक काल (Era)	खंड (Period)
आदि काल—Eozoic	१. लेविसियन
पुरातन काल—Archæozoic	२. टौरिडोनियन
प्राचीन काल—Palæozoic	३. कैम्ब्रियन ४. ओर्डोवीसियन ५. सिलूरियन ६. डेवोनियन ७. कार्बोनिफेरस ८. परमियन
माध्यमिक काल—Mesozoic	९. ट्राइऐसिक १०. ज्यूरैसिक ११. क्रीटशस
आधुनिक काल—Kainozoic	१२. इओसीन १३. ओलाइगोसीन १४. माइओसीन १५. प्लाइओसीन १६. प्लाइस्टोसीन

पर इस प्रकार का विभाग क्यों किया गया। वस्तुतः बात यह है कि जलवायु, तापक्रम आदि परिस्थितियों पर प्राणी और वनस्पति-जगत् की अवस्था निर्भर है। गर्म प्रदेश में रहने वाले पशु और इन स्थलों में उगने वाले वृक्ष शीत-प्रधान प्रदेश के पशु और वृक्षों से अनेक उपयोगी गुणों में भिन्न होते हैं। प्रत्येक पशु और वृक्ष के जीवन के लिये एक विशेष जलवायु की आवश्यकता है। अब यदि कहीं पुराने अस्थिपिंजर प्राप्त हों या वृक्षों के अवशेष मिलें तो उनकी परीक्षा करने से पता चल सकता है कि उक्त जीव और वृक्षों के जीवन-काल में उस स्थान पर कैसी जलवायु थी, अथवा उस समय उक्त स्थान में पृथ्वी की क्या अवस्था थी। इस सिद्धान्त के अनुसार प्राचीन अवशेषों और अस्थिपिंजरों को संकलित किया गया और उस समय का इतिहास इन्हीं साधनों द्वारा निश्चित किया गया है। पृथ्वी का इतिहास जानने वाले विद्यार्थी के लिये इन अवशेषों और शिलाओं के अतिरिक्त और कोई साधन है भी तो नहीं, जिससे कुछ सहायता ली जा सके।

उपर्युक्त सिद्धान्त को एक उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है। यह सब जानते हैं कि मूँगाओं की भित्तियाँ केवल उष्ण जलवायु में ही उपलब्ध होती हैं। इस समय भी उन्हीं प्रायद्वीपों या महाद्वीपों के समुद्री तट पर मूँगा पाये जाते हैं, जहाँ की जलवायु उष्ण है। यदि किसी शीत-प्रधान देश में मूँगाओं के अवशेष पाये जायँ, तो इससे यह अनुमान लगाना सर्वथा युक्ति-

सङ्गत है कि ऐसा कोई समय अवश्य था, जब कि इस शीत-प्रधान देश की जलवायु उष्ण थी, और तभी वहाँ इन मूँगाओं की उत्पत्ति होना सम्भव हुआ। बृटिश-द्वीप के कुछ चूने के पत्थरों में मूँगा पाये जाते हैं, इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि एक समय अवश्य ऐसा था, जब कि इन द्वीपों की जलवायु वर्त्तमान जलवायु की अपेक्षा अधिक गरम थी।

सृष्टि के इतिहास को परिवर्तित करने में गरम और ठण्डी हवाओं की शक्तियाँ भी बहुत भाग लेती हैं। यदि किसी शिला-प्रस्तर पर वायु अधिक शक्ति से टकराती है तो इनमें और प्रकार का परिवर्तन हो जाता है और कम बल से टकरावे तो परिवर्त्तन और ही प्रकार का होगा। हवाओं का बल या शक्ति दो स्थलों के तापक्रम-भेद पर निर्भर है। हवायें किस प्रकार चलती हैं? मान लीजिये कि दो स्थान भिन्न-भिन्न तापक्रमों पर हैं। एक अधिक गरम है और दूसरा अधिक ठण्डा है। गरम प्रदेश की हवा गरम होकर हलकी हो जाती है और ऊपर उठती है और उसका रिक्त-स्थल पूरा करने के लिये ठण्डे स्थान से ठण्डी वायु गरम प्रदेश की ओर दौड़ने लगती है। इसी प्रकार हवा के झोंके तापक्रम-भेद से पैदा हो जाते हैं। दो स्थानों के तापक्रमों में जितना ही अधिक भेद होगा, हवा का झोंका भी उतने ही अधिक बल से बहेगा। यदि यह तापक्रम-भेद कम है, तो हवा भी धीरे-धीरे बहेगी। भूप्रदेश पर इस हल्के बल वाली वायु का प्रभाव और प्रकार का पड़ेगा और अधिक बल वाली वायु का प्रभाव और प्रकार का

होगा। भू-वेत्ताओं ने स्थलों की परीक्षा करके यह परिणाम निश्चित किये हैं कि वायु का कितना वेग स्थलों में कितना परिवर्त्तन कर सकता है। किसी अज्ञात स्थान में भूमि की परीक्षा करने से पता चलता है कि किसी समय वहाँ पर वायु अधिक वेग से चल रही थी या धीरे-धीरे, अतः यह पता चल सकता है कि उस स्थल के तापक्रम में और समीपवर्ती अन्य स्थानों में तापक्रम का भेद कम था या अधिक। इस प्रकार उन स्थलों की भौतिक स्थिति का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है।

वर्षा की बूँदों के प्रभाव से भी भू-स्थल पर अनेक परिवर्तन हो जाते हैं। अतः भिन्न-भिन्न स्थलों की परीक्षा करने से यह पता चल सकता है कि उन स्थलों में वर्षा की क्या अवस्था थी। कल्पना कीजिये कि किसी ऐसे स्थल में, जहाँ आजकल बहुत कम वर्षा होती है, कुछ ऐसे चिह्न मिलें जो केवल अधिक वर्षा होने वाले स्थलों में ही सम्भव थे, तो यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कोई ऐसा समय अवश्य होगा, जब इस स्थल में बहुत वर्षा होती थी।

इन सब साधनों का उपयोग करके यह परिणाम निकाला गया है कि अनेक स्थलों में जहाँ पहले मरुभूमि थी आजकल झीलें हैं और जहाँ आजकल झीलें हैं वह पहले मरुस्थल थे। परीक्षा करने पर यह पाया गया है कि चीन में और दक्षिणी आस्ट्रेलिया में एडीलेड के पीछे की पहाड़ियों में एक ही प्रकार की शिलायें हैं। ये सब शिलायें प्राचीनकाल के कैम्ब्रियन खंड में हिमानी-नदों (ग्लेशि-

यरों) के प्रभाव से बनी हुई बताई जाती हैं। ग्लेशियर बर्फीली नदी के समान होते हैं। इससे स्पष्ट है कि कैम्ब्रियन काल में चीन और दक्षिणी आस्ट्रेलिया में आजकल की अपेक्षा कहीं अधिक ठंडक पड़ती थी।

इन सब बातों से यह पता चलता है कि भौगर्भिक इतिहास के आरम्भ में बहुत से स्थानों पर आजकल की अपेक्षा अधिक ठंडक पड़ती थी। प्राचीन-कालीन कार्बोनिफेरस खंड की शिलाओं की परीक्षा करने से यह पता चलता है कि भारतवर्ष तथा दक्षिणी गोलार्ध के अन्य भागों में उन स्थानों पर बहुत बर्फ पड़ती थी और ग्लेशियर भी विद्यमान थे, जहाँ कि आजकल इनका नामो-निशान भी नहीं है। दक्षिणी अफ्रीका में भी इसी प्राचीन समय के बहुत से ऐसे पत्थर विद्यमान हैं, जिनके देखने से यह पता चलता है कि इनमें बर्फ के टुकड़ों की रगड़ें अवश्य लगी हैं। इससे स्पष्ट है कि यहाँ भी उक्त समय में ग्लेशियर विद्यमान थे। क्या यह विचित्र बात नहीं है कि जिस समय भारतवर्ष, अफ्रीका आदि में कड़ाके की बर्फ पड़ती थी, यूरोप आदि उत्तरी गोलार्ध के स्थलों में आजकल की अपेक्षा अधिक गरम जल-वायु थी।

पृथ्वी की पुरातन जलवायु इस बात को अधिक सिद्ध करती है कि इसका जन्म ठंडे उल्काओं के संघात और एकीकरण से हुआ है, न कि ज्योतिर्मय वायव्य के घनीकरण से। इसमें सन्देह नहीं कि एक समय ऐसा था, जब कि भूमि के ऊपर की पपड़ी

आजकल की अपेक्षा अधिक गरम थी, परन्तु यदि पृथ्वी का जन्म ठंडे पदार्थों के ऐसे समूहों से हुआ है, जो पारस्परिक संघर्षण के कारण गरम हो गये थे, तो यह गरम अवस्था शीघ्र ही नष्ट हो जानी चाहिये। यदि पृथ्वी की उत्पत्ति ज्योतिर्मय नीहारिकाओं से मानी जाय तो इसके केन्द्र में इतना ताप होना कभी सम्भव नहीं है जितना कि इसमें पाया जाता है। ऐसी अवस्था में पृथ्वी की पपड़ी नीचे से इतनी नियमित रूप से फिर गरम न हो पाती और समस्त भूमि ठंडी पड़ जाती। इससे मालूम होता है कि ज्योतिर्मय भाप के घनीकरण से भूमि की उत्पत्ति मानना ठीक नहीं है।

पृथ्वी की पपड़ी का निर्माण

सम्भवतः यह पृथ्वी ठण्डे उल्काओं के एकीकरण से बनी, पर एक समय ऐसा अवश्य आ चुका है जब कि इसका पृष्ठतल आजकल की अपेक्षा अधिक गरम था। यह गरम उल्काओं के संघर्षण से पैदा हुई थी। संघर्षण के अतिरिक्त गरमी पैदा होने का एक दूसरा भी कारण था। जब सब उल्का आपस में मिल गये तो इस प्रकार बने हुए पिण्ड में सङ्कोचन आरम्भ हुआ। यह सङ्कोचन भी गरमी का कारण है। सूर्य्य की भी अधिकांश गरमी इसी संकोचन से उत्पन्न हुई है, न कि सूर्य्य-स्थित-पदार्थों के जलने के कारण। सूर्य वाष्पों का समूह है, यदि इसमें स्थित-पदार्थों के जलने के कारण ही गरमी होती, तो जिस हिसाब से सूर्य्य अपनी

गरमी अन्य लोकों को दे रहा है, उस हिसाब से इसमें अधिक समय तक गरमी न रह सकती। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि यदि सूर्य के आकार के बराबर कर्बन का एक गोला तपाया जाय तो इसमें ३ हज़ार वर्ष से अधिक गरमी नहीं रह सकती है। पर सूर्य लाखों वर्षों से बराबर हमको गरमी देता रहा है। इसका कारण यही है कि इस गरमी का मुख्य कारण सूर्यस्थ वाष्पों का संकोचन है। जर्मन-विज्ञान-वेत्ता हेल्म-होल्ज़ ने इस संकोचन का हिसाब लगा कर यह दिखा दिया है कि इसके आधार पर सूर्य में बहुत दिनों तक गरमी रह सकती है। उसकी गणना के हिसाब से यदि सूर्य के व्यास में प्रतिदिन १६ इंच या प्रति ११ वर्ष में १ मील संकोचन होता रहे तो यह बराबर गरम बना रहेगा।

इसी प्रकार का संकोचन पृथ्वी के उल्का-पिंड में भी हुआ। ये उल्का मुख्यतः लोहे के बने हुए थे, जो कि ताप का अच्छा चालक है। अतः संकोचन से जो ताप उत्पन्न हुआ वह सम्पूर्ण पिण्ड में फैल गया। इस पिण्ड के पृष्ठतल से धीरे-धीरे कुछ ताप विसर्जित होने लगा और गरम पृष्ठतल ठंडा हो गया। संकोचन द्वारा उत्पन्न गरमी से बहुत से पदार्थ पिघल भी गये। पर पृथ्वी के केन्द्रस्थ पदार्थों के पिघलने के लिये अधिक अवकाश न था, क्योंकि जब कोई वस्तु पिघलती है तो ठोसावस्था की अपेक्षा वह अधिक जगह घेरती है। पर ऊपर के पदार्थों के दबाव के कारण पृथ्वी के अन्दर के पदार्थों को इतनी जगह कहाँ मिल सकती थी कि वे पिघल कर बढ़ जायँ। अतः भू-पिंड का केन्द्रस्थ भाग

ठोस ही रहा। जो वस्तुएँ अधिक शीघ्र पिघल सकती थीं वे ऊपर के तल में पिघल कर बहने लगीं। पृथ्वी के अन्दर भी जो कुछ पिघले हुए अंश थे वे पिंड की भारी धातुओं के संकोचन से ऊपर आ गये। इस प्रकार पृथ्वी के अन्दर तो धातुएँ रह गयीं और पथरीले पदार्थ ऊपर आ गये। यह पथरीला पिघला हुआ भाग ठंडा होने पर पृथ्वी की पथरीली पपड़ी बन गया। यही बात है कि पृथ्वी का धातु-कोष अन्दर की तरफ़ है और शिला-कोष ऊपर है।

रेडियो-एक्टिविटी या रश्मिशक्तित्व का हिसाब लगा कर लार्ड रेले ने भी यही अनुमान लगाया है कि पृथ्वी के अन्दर धातुकोष अवश्य विद्यमान है। पृथ्वी के पृष्ठतल पर जितना रश्मिशक्तित्व है, उसके हिसाब से ४५ मील की तह में रश्मिशक्ति-युक्त पदार्थ होने चाहिये, पर यदि और अधिक तह में ये होते तो पृथ्वीतल पर की रश्मिशक्ति-मात्रा और अधिक होती। इससे पता चलता है कि ४५ मील के नीचे रश्मिशक्तित्व पदार्थ नहीं हैं। यह विदित बात है कि लोह-उल्काओं में रश्मिशक्तित्व नहीं होता है। बहुत सम्भव है कि पृथ्वी में ४२ मील नीचे लोह उल्का तथा नक़लम् आदि धातुएँ होंगी, अतः पृथ्वी के भीतर धातुकोष की विद्यमानता मानना अनुपयुक्त न होगा।

पृथ्वी की पपड़ी पथरीली शिलाओं की बनी है। प्रत्येक शिला एक व अनेक पदार्थों से मिलकर बनी हुई है। इन पदार्थों को खनिज कहते हैं। ये खनिज दो प्रकार के होते हैं—एक रस खनिज

और दूसरे मिश्रित खनिज। जिन खनिजों के चूर्ण पानी से धोकर या हाथ से ही जिनके कण चुन-चुन कर दो पृथक् भागों में अलग नहीं किये जा सकते हैं उन्हें एकरस खनिज कहते हैं। मिश्रित खनिज कई खनिजों के मिश्रण होते हैं। इनमें से बहुत से मिश्रित खनिज कई एकरस खनिजों के मिश्रण को गलाकर ठंडा करने से बनाये जा सकते हैं। बहुत से मिश्रित खनिज प्रकृति में ही पाये जाते हैं, उनको कृत्रिम रूप से तैयार नहीं किया जा सकता है।

निम्न खनिज एकरस खनिजों के मिश्रण को गलाकर कृत्रिम रूप से तैयार किये जा सकते हैं:—

१. ओलिविन ४. भूरा माइका (अभ्रक)
२. पाइरोक्ज़ीन ५. फेल्सपार
३. गारनेट ६. ट्रिडाइमाइट

क्वार्ट्ज़, श्वेत माइका (अभ्रक), टोपाज़, टूरमेलिन आदि कृत्रिम रूप में अभी तक नहीं बनाये जा सके हैं।

इस प्रकार शिलाओं में पाये जाने वाले खनिज दो विभागों में बाँटे जा सकते हैं। एक तो वे जो पिघले हुए खनिजों से बनाये जा सकते हैं और दूसरे क्वार्ट्ज़, श्वेत माइका आदि के समान वे जिनके बनने की प्रक्रियायें इतनी जटिल हैं कि अब तक कृत्रिम रूप से उनका बनाना सम्भव नहीं हुआ है।

पृथ्वी के पृष्ठतल पर सबसे पहले वे चट्टानें बनी होंगी, जो साधारणतया गला कर बनाई जा सकती हैं। इनके खनिजों

में सिलीका (शैलम धातु का ओपिद) नहीं पाया जाता है, अतः ये क्षारीय कहलाती हैं। कुछ शिलाओं में लोहा और मगनीसम भी होता है। इन शिलाओं के पश्चात् उन शिलाओं की स्थिति है, जो क्षारीय हैं। इन शिलाओं के खनिजों में ग्रेनाइट अधिक प्रसिद्ध है। इस प्रकार भौगर्भिक इतिहास में भूमि सर्वप्रथम तीन भागों में विभाजित हुई—(१) केन्द्रस्थ धातुकोप (२) शिलाकोप, जिसके नीचे की तह में क्षारीय शिलायें, लोह और मगनीसम वाले खनिज हुए और (३) जिसकी ऊपरी तह में अम्लीय शिलायें, जिनमें क्वार्ट्ज, सैन्धक शैलेत आदि खनिज हुए।

इस प्रकार पृथ्वी के पृष्ठतल की पपड़ी बन गई। अब इन पपड़ियों के भीतर भूमि की क्या अवस्था है, इसका पता लगाने के लिये भूकम्प या भूडोल की भी सहायता ली गई है। जब किसी तालाब या नदी में एक कङ्कड़ डाला जाता है, तो जिस स्थान पर कङ्कड़ गिरता है, उसके चारों ओर गोल-गोल लहरें उठने लगती हैं और ये लहरें तालाब के एक किनारे से दूसरे किनारे तक पहुँच जाती है। यदि कीचड़ में कङ्कड़ डाला जाय तो उसमें भी कुछ लहरें उठेंगी, पर इनका वेग उतना न होगा जितना कि पानी की लहरों का था। इससे मालूम होता है कि इस प्रकार की लहरें भिन्न-भिन्न तरल पदार्थों में भिन्न-भिन्न वेग से चलती हैं।

पृथ्वी में जो भूकम्प आते हैं वे भी तो इसी प्रकार की तरङ्गें हैं। पृथ्वी की पपड़ी में जब कभी क्षति पहुँचती है या किसी

ज्वालामुखी का प्रकोप होता है तो इस प्रकार की लहरें चलने लगती हैं। ये लहरें दो प्रकार से चल सकती हैं। या तो पृथ्वी के पृष्ठतल पर ही होकर अपने विपरीत स्थान पर पहुँच जाँय, या पृथ्वी के अन्दर होती हुई दूसरे स्थान पर पहुँचें। पृथ्वी गोल है, अतः पृथ्वी के भीतर सीधी घुस कर पृष्ठतल के दूसरे स्थान पर पहुँचने में कम समय लगेगा और यदि पृष्ठतल के ऊपर ही ऊपर जाना चाहेंगी तो इन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचने में अधिक समय लगेगा। इसके अतिरिक्त इन लहरों को मार्ग में जिस प्रकार के पदार्थ मिलेंगे उनकी अवस्था पर भी इन लहरों का वेग निर्भर रहेगा। प्रोफ़ेसर मिल्ने ने हिसाब लगाया है कि पृथ्वी के अन्दर होकर तो ये लहरें ५·२८ मील प्रति सेकेण्ड के हिसाब से चलती है, पर पृथ्वी की पपड़ी में होकर केवल १·८६ मील प्रति सेकेण्ड ही वेग रह जाता है। इन वेगों के हिसाब से मिल्ने ने पता लगाया है कि चालीस मील मोटी पृथ्वी की पपड़ी है और इसके नीचे धातु का एकरस कोष है। ओल्डम महोदय ने अपनी परीक्षाओं से यह परिणाम निकाला है कि धातुकोष के नीचे भी एक और कोष है, जिसे केन्द्रस्थ कोष कहते हैं। यह किसी अज्ञात पदार्थ का बना हुआ है।

पर इस प्रकार की पृथ्वी से कोई अधिक लाभ नहीं हो सकता था, क्योंकि इसकी सम्पूर्ण धातुएँ पृथ्वी के दुरूह गर्भ में लुप्त थीं, जहाँ से धातुओं को प्राप्त करना मनुष्य-शक्ति के बाहर था। बिना धातुओं के मनुष्य-जीवन का निर्वाह होना असम्भव ही है।

स्फुरतत्व (फास्फोरस) भी अग्नि-शिलाओं में छोटे-छोटे कणों के रूप में बिखरा हुआ था, जिनसे लाभ उठाना दुष्कर ही था और बिना स्फुर के भी तो मनुष्य या प्राणियों का शरीर नहीं बन सकता है। कार्ट्ज़ भी, जिनका उपयोग भवनों के निर्माण करने में होता है, अज्ञात शिलाओं के बीच में छिपा हुआ था। यह मिट्टी जो अनेक रूप से हमारे लिये आवश्यक है, उस समय इस रूप में न थी। शरीर-निर्माण का एक और आवश्यक पदार्थ नोपजन (नाइट्रोजन) केवल वायुमण्डल में ही था, पर इस रूप में यह प्राणियों और वनस्पतियों के लिये किसी काम का भी नहीं है। यद्यपि जीवन को आवश्यक समस्त सामग्री इस पृथ्वी में विद्यमान थी, पर वह सब ऐसी अवस्था और ऐसे स्थलों में थी कि उससे लाभ उठाना असम्भव ही था।

अतः प्राणियों के विकास के पूर्व इस पृथ्वी में फिर परिवर्तन आरम्भ हुए। इनके द्वारा पृथ्वी की सम्पत्ति का वितरण और विभाजन हुआ। जिस प्रकार बड़े-बड़े नगरों के बाज़ारों में दूर-दूर के स्थलों से भिन्न-भिन्न वस्तुएँ आकर आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं, इसी प्रकार पृथ्वी में भी अनेक स्थलों पर बाज़ार खुल गये, जहाँ सब जगहों की वस्तुएँ एक स्थान पर मिलना सम्भव हो गई।

पृथ्वी की अवस्था में ये परिवर्त्तन तीन प्रकार के साधनों से हुए। पहले प्रकार के साधन ने शिला-कोष की शिलाओं को तोड़ना आरम्भ किया। दूसरे प्रकार के साधनों ने शिलाकोष के

इन टुकड़ों का निर्वाचन किया अर्थात् भिन्न-भिन्न पदार्थों को अलग-अलग किया। तीसरे प्रकार के साधनों ने शिलाकोष के इन निर्वाचित अंशों को फिर भिन्न-भिन्न प्रस्तरों के रूप में सञ्चित करना आरम्भ किया। इस प्रकार तीन साधनों द्वारा शिलाकोप की शिलाओं से नई शिलाएँ बननी आरम्भ हुईं।

अब दो प्रकार की शिलाएँ हो गईं। एक तो वे, जो पृथ्वी के बनते समय पिघले हुए भाग के ठण्डे होने से बनी थीं। इन्हें 'मुख्य-शिलायें' (primary rocks) कहते हैं। दूसरे प्रकार की शिलायें इन्हीं मुख्य शिलाओं के विभाजन और नये रूप से संचय होने से बनी हैं। इन्हें 'गौण-शिलायें' (secondary) कहते हैं। मुख्य शिलाओं पर वायुमण्डल की गैसों का प्रभाव पड़ता है, जिससे इनमें परिवर्तन आरम्भ हो जाते हैं। वायु में ओषजन, कर्बन द्विओषिद और जलवाष्प, ये तीन ऐसे अंश हैं—जिनका उपयोग प्रकृति मुख्य शिलाओं के भञ्जन करने में करती है। इन शिलाओं के कुछ अंशों से ओपजन संयुक्त हो जाता है। ओपजन से अन्य पदार्थों के संयोग का नाम ओपदीकरण है। इस प्रक्रिया में ताप भी उत्पन्न होता है और पदार्थों के आयतन में भी वृद्धि होती है। इसका तात्पर्य यह है कि ओषदीकरण के पूर्व पदार्थ जितनी जगह घेरता है उससे अधिक जगह उसे ओषदीकरण के पश्चात् घेरने के लिये चाहिये, पर इन शिलाओं के आस-पास खाली स्थल न होने के कारण इन्हें अपनी समीपस्थ अन्य शिलाओं से सङ्घर्षण करना पड़ेगा और

जिस प्रकार गरम काँच पानी पड़ते ही टुकड़े-टुकड़े हो जाता है, ये मुख्य शिलायें भी ओपजन से संयुक्त होकर फैलने के लिये अवकाश न पाने के कारण चूर-चूर हो जाती हैं।

वायु में कर्बनद्विओपिद भी है। जब वर्षा होती है तो यह पदार्थ जल में घुल कर पृथ्वी पर आ जाता है। यह जल ज़मीन में प्रविष्ट हो जाता है। और वहाँ की चट्टानों से इसमें घुला हुआ कर्बनद्विओपिद संयुक्त हो जाता है। कर्बनद्विओपिद और अन्य पदार्थों के संयोग से जो पदार्थ बनते हैं उन्हें कर्बनेत कहते हैं। शिलाओं का मुख्य तत्त्व शैलम या सिलीकन है। जब तक शिलाओं में यह तत्त्व रहता है तब तक इन पदार्थों को शैलेत (सिलीकेट) कहते हैं। पर अब कर्बनद्विओपिद के प्रभाव से ये शैलेत कर्बनेत में परिणत हो जाते हैं। इस परिवर्तन के कारण भी शिलाओं का विभाजन और भञ्जन आरम्भ होता है।

वायु में जो जल विद्यमान है, वह भी इन मुख्य शिलाओं को तोड़ने में सहायक होता है। यह वाष्पजल धीरे-धीरे शिलाओं में भिदने लगता है और उनके छेदों और दराजों में भर जाता है। रात को ठण्डा होकर यह जल बर्फ़ बन जाता है। बर्फ़ पानी से अधिक स्थान घेरती है, अतः बर्फ़ बन कर जब जल फैलता है तो फैलने के लिये अवकाश न पाकर यह चट्टानों को तोड़ डालता है। इस जल का दूसरा प्रभाव यह होता है कि इसमें कर्बनद्विओपिद घुले होने के कारण बहुत से कर्बनेत

इसमें घुल जाते हैं और इस प्रकार शिलाओं में परिवर्तन हो जाता है।

इन सब प्रभावों के द्वारा मुख्य शिलायें टूट-टूट कर टुकड़े हो जाती हैं, और फिर बाद को इनसे नई शिलाएँ बननी आरम्भ होती हैं। इन शिलाओं का विस्तृत वर्णन आगे दिया जावेगा।

दसवाँ अध्याय

शिलायें और प्रस्तर

शिलायें दो प्रकार की होती हैं—मुख्य और गौण शिलायें। पृथ्वी के बनते समय पिघले हुए भाग के ठंडे होने से जो शिलायें बनी थीं उन्हें मुख्य शिलायें कहते हैं। इन मुख्य शिलाओं में कई कारणों से परिवर्तन हुए, और ये टुकड़े-टुकड़े हो गईं। ये टुकड़े फिर आपस में मिलकर नई शिलाओं के रूप में जम गये। इस प्रकार गौण शिलाओं की उत्पत्ति हुई। वस्तुतः ये शिलायें कई प्रकार की मुख्य शिलाओं से बनाई गई हैं। मुख्य और गौण शिलाओं की अवस्थाओं में चार विशेष भेद हैं :—

[क] मुख्य शिलायें रवेदार पदार्थों की बनी होती हैं। जिस प्रकार किसी द्रव घोल को धीरे-धीरे ठंडा करने से रवे जमने लगते हैं, इसी प्रकार आदि अवस्था वाली पृथ्वी के द्रव जब ठण्डे होने लगे तो रवों के रूप में पदार्थ पृथक् होने लगे और इनसे ही बड़ी-बड़ी शिलायें बन गईं। गौण शिलायें मुख्य शिलाओं के टुकड़ों से बनी होती हैं।

[ख] मुख्य शिलायें आरम्भ में अति उच्च तापक्रम के गरम द्रव के रूप में थीं, और बाद को धीरे-धीरे ठण्डी होकर

ठोस होगईं । इन्हें इस कारण आग्नेय शिलायें कहते हैं । गौण शिलायें अधिकतर जल के प्रभाव द्वारा बनी हैं, अतः इन्हें कभी-कभी जलीय शिलायें भी कहते हैं । पर जो गौण शिलायें मुख्य शिलाओं पर हवा के झोंकों से परिवर्तित होकर बनी हैं, उन्हें वात-शिलायें (aeolian) कहते हैं ।

[ग] गौण शिलायें मुख्यतः जल अथवा वायु के प्रभावों से बनती हैं । अतः बहुधा ये चौड़ी-चौड़ी लम्बी तहों में जम जाती हैं । ऐसी शिलाओं को 'प्रस्तर' कहते हैं । क्योंकि 'स्तर' शब्द का अर्थ 'सतह' है । ऐसी शिलाओं में एक के ऊपर लगे हुये दूसरे स्तर दिखाई देंगे । मुख्य शिलाओं में इस प्रकार के स्तर नहीं होते हैं ।

[घ] मुख्य शिलायें तप्त द्रवावस्था से ठोस होकर बनी हैं, अतः इन शिलाओं में प्राणियों, वनस्पतियों आदि के अवशेष नहीं पाये जाते हैं । कारण यह है कि जहाँ ये चट्टानें बनी थीं वहाँ किसी भी प्राणी का जीवन सम्भव नहीं है । पर गौण शिलाओं में उन जानवरों और वनस्पतियों के अवशेष पाये जाते हैं जो उस समय वहाँ विद्यमान थे, जब कि ये शिलायें बन रही थीं । उन अवशेषों की परीक्षा करने से ज्ञात हो सकता है कि ये शिलायें स्थल भाग पर बनी हैं या जल के अन्दर । यदि जल के अन्दर रहने वाले जीवों के अस्थि-पिंजर प्राप्त हुए तो समझना चाहिये कि ये जल के अन्दर बनी हैं, पर यदि स्थल प्रान्त के जीवों और वनस्पतियों के अवशेष मिलें तो यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि इनका निर्माण स्थल भाग में ही हुआ है ।

अब हम इन शिलाओं का कुछ विस्तृत वर्णन देंगे। ये सब शिलायें निम्न प्रकार कई भागों में विभाजित की जा सकती हैं :—
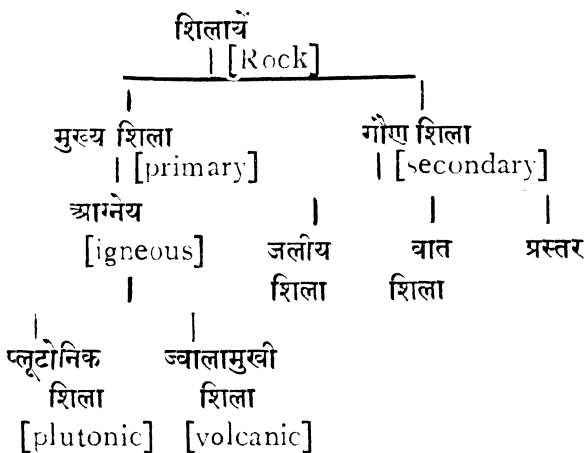
इन सब प्रकार की शिलाओं की सूक्ष्म परिभाषा यहाँ एकत्रित कर देना अनावश्यक न होगा।

मुख्य शिला—वे शिलायें मुख्य शिलायें कही जाती हैं, जो द्रव पदार्थों के घनीकरण द्वारा बनी हैं। सबसे पहले इन्हीं शिलाओं की उत्पत्ति होती है।

गौण शिला—मुख्य शिलाओं के विभाजन होने के पश्चात् कणों के नये रूप में इकट्ठा होने से जो शिलायें बनती हैं, उन्हें गौण शिलायें कहते हैं।

आग्नेय शिला—मुख्य शिलाओं को ही बहुधा आग्नेय शिला

भी कहा जाता है। आग्नेय कहने का तात्पर्य यह है कि ये बहुधा आरम्भ में प्रचण्ड तप्त द्रव के रूप में थीं।

प्लूटोनिक शिला—इन आग्नेय शिलाओं में से जो शिलायें पृथ्वी के सबसे भीतरी भाग में बनीं, उन्हें प्लूटोनिक शिला कहा जाता है।

ज्वालामुखी शिला—वे आग्नेय शिला, जो पृथ्वी के अन्दर के द्रव के बाहर निकल आने के कारण पृष्ठ-तल पर बनीं, ज्वालामुखी शिलायें कही जाती हैं।

जलीय शिला—ये वे गौण शिलायें हैं जो मुख्य शिलाओं पर जल के प्रभाव पड़ने से बनी हैं।

वात शिला—जब मुख्य शिलायें वायु द्वारा विभाजित हो जाती हैं और इनके कण दूसरे रूप में इकट्ठा होकर जम जाते हैं तब ये वात शिलायें कही जाती हैं।

प्रस्तर—गौण शिलायें ही बहुधा एक पर दूसरी कई सतहों में जम जाती हैं। अतः इन्हें प्रस्तर भी कहते हैं।

इन सब शिलाओं के विभाग की ओर दृष्टि डालने से पता चल जावेगा कि शिलाओं का कोई आदर्श-विभाग नहीं किया जा सकता है। मुख्य शिला और गौण शिला ये दो विभाग करना ही अधिक उचित प्रतीत होता है।

गौण शिलाओं में चार प्रकार के पदार्थ सम्मिलित हैं :—

१—बालू के पत्थर

२—मिट्टी

३—चूने के पत्थर

४—कोयला

बालू के पत्थर की बनी हुई शिलाओं में बालू के कण होते हैं। गौण शिलाओं की आरम्भिक अवस्था में बालू होती है, जो वायु अथवा जल के प्रभाव द्वारा मुख्य शिलाओं के परिवर्तित होने से बनती है। आरम्भ में बालू के कण बहुत छोटे-छोटे होते है। धीरे-धीरे यह छोटे-छोटे कण आपस में मिलने लगते हैं और बड़ा रूप धारण कर लेते हैं। कालान्तर में यही बालू के पत्थरों में परिणत हो जाते हैं। जब ये बहुत ही दृढ़ता से आपस में मिल जाते हैं तो ये क्वार्ट्ज़ कहलाने लगते हैं।

बालू के ये पत्थर कभी-कभी ढेलों के रूप में आप से आप जुड़ जाते हैं। इनका रचना-क्रम और रूप नियमित नहीं होता है, ऐसी अवस्था में इन्हें 'कङ्कड़' कहा जाता है। बालू के पत्थरों में बालू के सूक्ष्मतम कण का व्यास ०·००५ स. म. (मिलीमीटर) होता है। यदि किसी प्रकार ये कण इतने से भी और अधिक छोटे हो जायँ तो ये 'मिट्टी' कहलाने लगते हैं। इस प्रकार मिट्टी और बालू में कोई विशेष रासायनिक भेद नहीं है। भेद केवल कणों के आकार का है।

मिट्टी भी कई प्रकार की होती है। चिकनी मिट्टी, बलुही मिट्टी, स्लेट आदि। स्लेट की मिट्टी में कण एक विशेष क्रम में नियमित रहते हैं और ये अत्यन्त दबाव के अन्दर दबाये जाते हैं। मिट्टी बहुत ही उपयोगी पदार्थ है, क्योंकि यह बहुत नरम होती है। कृषि

आदि के लिये इसकी उपयोगिता बहुत ही अधिक है। मिट्टी का बड़ा गुण यह भी है कि यह पानी को अपने अन्दर प्रविष्ट नहीं होने देती है। इसका लाभ यह है कि वर्षा का पानी पृथ्वी के अन्दर अधिक गहरी सतह तक प्रविष्ट होकर बेकार नहीं होने पाता है, नीचे मिट्टी के ऊपर कुएँ के अन्दर बहता रहता है। कभी-कभी स्रोतों के रूप में बाहर भी निकल आता है।

गौण शिलाओं का तीसरा भाग चूने का पत्थर है। इसका रासायनिक नाम खटिक-कर्बनेत है। यह खड़िया के रूप में या सङ्गमरमर पत्थर के रूप में पाया जाता है। जल और कर्बन द्विओषिद के प्रभाव से यह अर्धकर्बनेत में परिणत होकर पेड़ों और जलजीवों के व्यवहार में आता है। जब ये पेड़ या जीव नष्ट हो जाते हैं तो इनके अस्थि-पिंजर एवं अवशेष इकट्ठा हो जाते हैं। और इन्हीं से कालान्तर में चूने के पत्थर भी बन जाते हैं। चूने के पत्थर की उपयोगिता का वर्णन देना अनावश्यक ही है, क्योंकि इसका व्यवहार नित्य-प्रति मकानों के बनाने में किया जाता है। पृथ्वी के उपजाऊ बनाने में भी यह सहायता देता है।

गौण शिलाओं का अन्तिम अङ्ग कोयला है। कोयले का मुख्य भाग कर्बन कहा जाता है। कभी-कभी बड़े-बड़े जङ्गल पृथ्वी के अन्दर दब जाते हैं और वहाँ इनका विभाजन आरम्भ होता है। क्षीण होते-होते इनका कोयला शेष रह जाता है। कोयला या कर्बन के कई रूप होते हैं। साधारण कोयला, पत्थर का कोयला, ग्रेफाइट या लेखनिक जिसकी पैंसिलें बनती हैं, धुँआ का कर्बन

जो मैदा के समान चिकना होता है, और सब से अनमोल कर्बन जो हीरा कहलाता है। हीरा भी कोयले का एक रूप है।

कोयला पाँच प्रकार का प्राप्त होता है :—

१—भूरा कोयला या लिग्नाइट—यह भूरे रङ्ग का गरम कोयला है। यह हाल का ही बना होता है।

२—घरेलू कोयला—जो घर में अङ्गीठी आदि के जलाने में काम आता है। यह कठोर, काला और भञ्जनशील होता है।

३—गैस-कोयला—यह कोयला ऐसी गैस देता है जो तीव्र श्वेत ज्वाला से जल सकती है। रोशनी करने के लिये पहले इसका बहुत व्यवहार किया जाता था।

४—तैल-कोयला (आयल-शेल)—इसमें बहुत से पार्थिव पदार्थ भी मिले रहते हैं। यदि इसको धीरे-धीरे गरम किया जाय तो इसमें से तैल स्रवित होने लगता है।

५—एन्थ्रेसाइट कोयला—यह आग के लिये सबसे उपयुक्त कोयला है। इसमें अन्य कोयलों की अपेक्षा कर्बन की अधिक मात्रा होती है। यह बिना ज्वाला या धुँआ के जलता है।

———

ग्यारहवाँ अध्याय

पृथ्वी पर परिवर्तन

इस बात पर वैज्ञानिकों में बहुत विवाद चलता आ रहा है कि पृथ्वी के स्थल और जल भागों में कभी विनिमय हुआ है या नहीं। भूमि के इतिहास में क्या कोई समय ऐसा भी था जब जहाँ आजकल समुद्र हैं वहाँ कभी महाद्वीप विद्यमान हों और जहाँ आजकल स्थल-भाग है वहाँ कभी जल ही जल हो। भारतवर्ष की ही बात लीजिये। कुछ लोगों की यह कल्पना है कि आजकल जिस स्थान पर राजपूताने की मरुभूमि है, वहाँ पुराने समय में समुद्र था। यही अवस्था अरब के रेगिस्तान और सहारा मरुभूमि के विषय में भी कही जा सकती है।

प्राचीन सभ्यता के अवशेषों के आधार पर इतिहास-वेत्ताओं का यह भी अनुमान है कि एक समय ऐसा था जब भारतवर्ष दक्षिण में आस्ट्रेलिया एवं अफ्रीका से मिला हुआ था। एक ओर बाली, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, लंका आदि आजकल के द्वीप सब एक दूसरे से मिले हुए थे और दूसरी ओर दक्षिण-पश्चिम में अरब सागर के स्थान में स्थल भाग था, जो मैडागास्कर आदि को मिलाता हुआ भारतवर्ष का सम्बन्ध अफ्रीका से करता था।

यूरोप के बहुत से द्वीपों के विषय में भी यही कहा जा सकता है। यह बहुत सम्भव है कि इङ्गलैण्ड, स्काटलैण्ड, और आयलैंड के द्वीप मुख्य यूरोपीय महाद्वीप से मिले-जुले हों और फ्रांस और इङ्गलैण्ड के बीच के इङ्गलिश चैनल का पुराने समय में अस्तित्व भी न हो। इसी प्रकार यह भी माना जा सकता है कि स्कैंडिनेविया का भी सम्बन्ध ग्रेटब्रिटेन के द्वीप से हो। भूमध्य-सागर में आजकल कई द्वीप पाये जाते हैं, जो सम्भवतः किसी समय महाद्वीप के भाग ही होंगे। इटली के पास का सिसेली तो अवश्य ही किसी समय प्रायद्वीप से मिला हुआ था। यह भी सम्भव है कि यूरोप और अफ्रीका के बीच का भूमध्य-सागर अभी थोड़े दिनों का ही हो, पहले दोनों महाद्वीप एक ही हों।

पृथ्वी के इतिहास में थल और जल भाग में कुछ न कुछ विनिमय अवश्य हुआ होगा, पर वैज्ञानिकों का ऐसा विचार है कि पूर्णतः थल-भाग कभी जल-प्रदेश में अथवा जल-भाग थल-प्रदेश में परिणत नहीं हुआ। शान्त और अशान्त महासागरों के बहुत से गहरे भाग इस प्रकार के हैं जिनके लिये यह कहना कि यहाँ सृष्टि के इतिहास के किसी समय में जल न था, अनुचित ही प्रतीत होता है। इसी प्रकार यह भी विश्वास होना कठिन है कि हिमालय और तिब्बत प्रदेश अथवा भारत का दक्षिणी प्लैटो किसी समय जल के अन्दर विद्यमान था।

वर्तमान समय की पृथ्वी कई महाद्वीपों में विभाजित की गई है। इस पृथ्वी पर अनेक प्रकार के पशु, पक्षी और पौधे पाये जाते

हैं। ये पशु-पक्षी प्रत्येक स्थान और महाद्वीप में अलग-अलग जातियों के होते हैं। प्राणिशास्त्र-विशारदों ने इन जीवों का निरीक्षण करके सम्पूर्ण पृथ्वी को सात विभागों में विभाजित किया है :—

१—नव-उत्तरी प्रदेश, जिसमें मैक्सिको तक फैला हुआ उत्तरी अमरीका सम्मिलित है।

२—नव-उष्ण प्रदेश, जिसमें मध्य और दक्षिणी अमरीका की गिनती है।

३—उपोत्तरी प्रदेश, जिसमें समस्त यूरोप, दक्षिणपूर्वी भाग छोड़ कर शेष एशिया और भारत और अफ्रीका के एटलस पर्वत की श्रेणियाँ हैं।

४—इथियोपियन प्रदेश, (हबश देश) जिसमें उपोत्तरी प्रदेशान्तर्गत भाग को छोड़कर अफ्रीका का समस्त भाग सम्मिलित है।

५—प्राच्य प्रदेश, जिसमें भारतीय प्रायद्वीप, दक्षिण-पूर्वीय एशिया और मलाया द्वीप-समूह सम्मिलित हैं।

६—आस्ट्रेलियन प्रदेश, जिसमें आस्ट्रेलिया, टसमेनिया, न्यूगिनी, और निकटस्थ अन्य द्वीप हैं।

७—न्यूज़ीलैण्ड प्रदेश, जिसको विचित्र पशु-पक्षियों के कारण एक स्वतंत्र ही विभाग समझा जा सकता है।

ये सात विभाग विशेषतः पक्षियों के निरीक्षण के आधार पर ही बनाये गये थे। पर अन्य पशुओं के लिये भी ये विभाग उपयुक्त हैं। एक प्रदेश के पशु दूसरे प्रदेश में तभी जा सकते हैं जब कि

दोनों प्रदेश एक दूसरे से संयुक्त हों अथवा उनके जाने के लिये अन्य सुविधायें हों। अफ़्रीका और दक्षिणी अमरीका के पक्षियों में विभिन्नता इसी कारण है कि दोनों के बीच में अटलाण्टिक महासागर है और यह सम्भव नहीं है कि एक महाद्वीप के पक्षी दूसरे महाद्वीप में इतने बड़े सागर को पार करके पहुँच सकें।

लाइडेकर (Lydekker) नामक वैज्ञानिक ने दूध पीने वाले पशुओं का निरीक्षण करके सम्पूर्ण पृथ्वी को तीन भागों में विभाजित किया था। पहला आर्क्टोजिया, जिसमें उत्तरी अमरीका, अफ्रीका और एशिया सम्मिलित हैं। दूसरा नीओजिया, जिसमें दक्षिणी और मध्य अमरीका हैं और तीसरा नोटोजिया, जिसमें आस्ट्रेलेशिया और पोलीनीशिया प्रदेश हैं।

पशुओं की विभिन्नता बहुत से देशों में पायी जाती है। थैलों में अपने बच्चों को लटका कर ले जाने वाले ऐसे पशु, जिनके दो दाँत आगे दिखाई देते हैं, केवल आस्ट्रेलिया अथवा उसके निकटस्थ द्वीपों में ही पाये जाते हैं। कंगारू-जीव इसी जाति के पशु हैं। विकास-वादियों का यह कहना है कि सृष्टि के ऐतिहासिक काल में ऐसे जीव आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अमरीका और कदाचित् दक्षिणी एशिया और अफ़्रीका में भी विद्यमान थे। दक्षिणी अमरीका और उत्तरी अमरीका के उत्तरी भाग में भी आजकल थैलों में अपने बच्चों को लटका कर ले जाने वाले जीव, जिनके बीच के जबड़े में दो से अधिक दाँत आगे निकले दिखाई देते हैं, पाये जाते हैं। जीवन के सङ्घर्ष में अन्य स्थानों के ऐसे जीवों का तो लोप

हो गया है । यूरोप और एशिया में ऐसे जीवों के केवल अवशेष पाये जाते हैं । इन प्रदेशों में उच्चश्रेणियों के पशुओं ने इनका नाश कर दिया । कदाचित् उस समय जब कि उच्चश्रेणी के पशुओं का यूरोप और एशिया में विकास हुआ, आस्ट्रेलिया इन प्रदेशों से अलग था । अतः आस्ट्रेलिया में ये कंगारू अब तक पाये जाते हैं । ये जीव अब केवल आस्ट्रेलिया और दक्षिणी अमरीका में पाये जाते हैं । इससे पता चलता है कि एक समय ऐसा था जब आस्ट्रेलिया और दक्षिणी अमरीका मिले हुए थे ।

इसके अतिरिक्त बहुत से ऐसे अन्य जीव भी हैं, जो आजकल केवल अफ्रीका, आस्ट्रेलिया और दक्षिणी अमरीका में तो मिलते हैं, पर जिनका उत्तरी गोलार्ध के प्रदेशों में नाम तक नहीं पाया जाता । इससे यही पता चलता है कि आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अमरीका और अफ्रीका तीनों को संयुक्त करने वाला एक थल-मार्ग दक्षिणी गोलार्ध में अवश्य था, जो कालान्तर में समुद्र के नीचे विलीन हो गया । अन्धे साँप जिन्हें टिफलोपीडा कहते हैं, मध्य और दक्षिणी अमरीका, दक्षिणी और उष्ण कटिबन्धस्थ अफ्रीका तथा भारत में ही पाये जाते हैं । ये यूरोप, अमरीका और एशिया के अन्य भागों में नहीं मिलते ।

यही हाल सिस्टिग-नेथीडा जाति के मेंढकों का भी है । ये आस्ट्रेलिया, टस्मानिया, दक्षिणी फ्लोरिडा, अमरीका और उत्तरी अमरीका में केवल मैक्सिको और दक्षिणी फ्लोरिडा तक ही पाये जाते हैं, इसके और उत्तर की ओर नहीं । एक्रेड़ी जाति की एक

विशेष तितली दक्षिणी अमरीका, दक्षिणी एशिया, आस्ट्रेलिया और दक्षिणी अफ्रीका में ही पायी जाती है।

इस प्रकार यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि दक्षिणी और उत्तरी गोलार्ध के अनेक जीवों में भेद है और पृथ्वी के इतिहास में एक ऐसा समय अवश्य था, जब दक्षिणी अमरीका, आस्ट्रेलिया, भारतवर्ष और दक्षिणी अफ्रीका एक दूसरे से मिले हुए थे। ऊपर कहे गये पशु कभी उत्तरी गोलार्ध में नहीं बसे। यह अवश्य है कि कभी-कभी भूमध्य-रेखा को पार करके कुछ उत्तर की ओर भारतवर्ष, उत्तरी अफ्रीका या मध्य अमरीका में भी चले आये।

इसी प्रकार बहुत से पशु ऐसे भी हैं, जो केवल उत्तरी गोलार्ध में रहे और दक्षिणी गोलार्ध में नहीं पहुँच सके। पुरातन जीवों के अवशेष भी यही बताते हैं कि दक्षिणी गोलार्ध के प्रदेश किसी समय एक दूसरे से मिले हुए थे। एक ही प्रकार के बड़े-बड़े दीर्घकाय कछुओं के अवशेष केवल आस्ट्रेलिया, एशिया, और पैटागोनिया में ही पाये जाते हैं, उत्तर में नहीं। यदि ये एक दूसरे देशों में उत्तर के प्रदेश से गये होते तो उत्तरी प्रदेशों में भी इनकी उपस्थिति के कुछ चिह्न मिलते। ऐसे चिह्नों के अभाव में तो यही मानना पड़ता है कि ये उत्तरी गोलार्ध में होकर नहीं गये। दक्षिणी गोलार्ध के सब प्रदेश किसी समय एक दूसरे से मिले हुए थे, अतः एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में इनका जाना आसान हो गया।

इन्हीं सब कारणों से यह माना गया है कि दक्षिणी गोलार्ध में एक बड़ा भारी महाद्वीप था, जो अब समुद्र के नीचे दब गया है। इस महाद्वीप का नाम गोंडवानालैण्ड रखा गया है। प्राचीन समय के अनेक थल-मार्ग आजकल जल में विलीन हो गये हैं।

गत एक अध्याय (पृष्ठ ११३) में यह लिखा जा चुका है कि समस्त सृष्टि का इतिहास ५ भौगर्भिक कालों (आदि, पुरातन, प्राचीन, माध्यमिक और आधुनिक) मे विभाजित किया जा सकता है, अथवा समस्त ऐतिहासिक काल को १६ खंडों में भी बाँट सकते है। यहाँ अब हम इस बात का उल्लेख करेंगे कि किस-किस समय सृष्टि के रूप में किस प्रकार का परिवर्तन होता गया।

सृष्टि के आदि काल (Eozoic) के सम्बन्ध में बहुत कम ज्ञात हुआ है। इस समय पृथ्वी की भौगोलिक अवस्था क्या थी, यह कहना कठिन है। वस्तुतः इस समय पृथ्वी का कोई निश्चित रूप न था। इसकी शिलायें, चट्टानें और प्रस्तर बहुत शीघ्र ही अवस्था परिवर्तित कर रहे थे। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उस समय पृथ्वी पर घनी झुर्रियाँ पड़ी हुई थीं। जब कोई सेव सूख जाता है तो उसके ऊपरी बक्कुल पर सिकुड़न आ जाती है। इसी प्रकार की सिकुड़न या झुर्रियाँ पृथ्वी के पृष्ठ-तल पर भी थीं। इन झुर्रियों का कारण यह है कि सेव का बक्कुल बहुत पतला होता है। आरम्भ में पृथ्वी के पृष्ठ-तल की पपड़ी भी बहुत पतली थी, अतः सूखने पर इसमें भी

झुर्रियाँ पड़ गईं । नारंगी का बक्कुल मोटा होता है, अतः जब नारंगी सूखती है तो कहीं-कहीं गड्ढे पड़ जाते हैं और इसलिये कुछ स्थान उठे हुए मालूम पड़ने लगते हैं। पृथ्वी की पपड़ी भी कुछ दिनों बाद मोटी हो गई और फिर कुछ समय और बीतने पर इसका रूप भी परिवर्तित होने लगा। कहीं बड़े-बड़े गड्ढे पड़ गये और कहीं-कहीं ऊँचे पहाड़ निकल आये । इस प्रकार पृथ्वी के आदि काल में पहले तो पृष्ठतल पर सिकुड़न पड़ी और फिर इसका रूप और विकृत होने लग ।

आगे के तीन कालों—पुरातन, प्राचीन और माध्यमिक में ये परिवर्तन और विकट होने लगे। बारी-बारी से पृथ्वी कभी गोल होती और फिर कुछ पिचकने लगती । अर्थात् कभी तो इसमें उभार होता और फिर इसके बाद यह धँसने लगती। इस समय का इतिहास ज्वालामुखियों की अवस्था के लिये प्रसिद्ध है। यद्यपि ऐसा कोई समय न आया होगा जब ज्वालामुखी पर्वत पूर्ण रूप से शान्त हो गये हों, पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि किसी-किसी समय में इनका कोप विशेष रूप से था और फिर किसी-किसी समय ये सापेक्षतः विशेष शान्त रहे हैं।

आदि काल एवं पुरातन काल (Archæozoic) दोनों ही में ज्वालामुखियों का विशेष प्रकोप था। कैम्ब्रियन खण्ड में ये कुछ शान्त पड़ गये और केवल कुछ ही ज्वालामुखी यदा-कदा कुपित दिखाई देते थे। इसके पश्चात् ओर्डोवीसियन-खण्ड आया और इसमें ज्वालामुखी-पर्वतों का प्रकोप फिर एक बार बढ़ने लगा।

सम्पूर्ण पृथ्वी पर ज्वालामुखी उत्तप्त पदार्थों को निकालने लगे। उनकी प्रचण्ड अवस्था के कारण भूमण्डल फिर अग्निमय हो गया। इसके बाद सिलूरियन खण्ड का समय आया और भूमि फिर शान्त हो गई और ज्वालामुखियों का प्रकोप बन्द होने लगा।

सिलूरियन के बाद डेवोनियन खण्ड में फिर ज्वालामुखियों की प्रचण्डता बढ़ी। कर्बोनिफैरस खण्ड के आरम्भ में इङ्गलैण्ड और आयरलैण्ड में कर्बन (कोयला) उत्पन्न करने वाले चूने के पत्थरों का जन्म हुआ। स्काटलैण्ड में इस समय भी कुछ ज्वाला-मुखी सचेष्ट थे, पर अन्य प्रदेशों में ये शान्त हो गये।

इस खण्ड के पश्चात् परमियन काल आया। इस समय ज्वालामुखी फिर सचेष्ट हो गये। इस समय पृथ्वी के अन्दर अनेक प्रकार की गतियाँ होनी आरम्भ हुईं। संसार के अनेक भागों में पर्वतों का जन्म इसी समय हुआ।

परमियन खण्ड के पश्चात् ट्राइएसिक खण्ड बीता और फिर माध्यमिक (Mesozoic) काल आया। इस काल में ज्वालामुखी पर्वत विशेष रूप से शान्त रहे। इस काल के अन्तिम खण्ड क्रीटेशस में ज्वालामुखी फिर प्रचण्ड होने लगे। इसी समय इङ्ग-लैण्ड के दक्षिण-पूर्व भाग में खड़िया मिट्टी का जन्म हुआ।

माध्यमिक काल के पश्चात् आधुनिक (Kainozoic) काल आया। इसके प्रथम खण्ड इओसीन में अमरीका, भारतवर्ष, अफ्रीका और आस्ट्रेलिया में विशेष रूप से ज्वालामुखी कुपित

हुए। इसके बाद ओलाइगोसीन खण्ड में ज्वालामुखी कुछ शान्त अवश्य हुए, पर माइओसीन खण्ड में जाकर इनका प्रकोप बहुत ही बढ़ गया। इसी समय आल्प और सरकमपेसिफिक पर्वतों की श्रेणियों का निर्माण हुआ।

इस इतिहास से यह पता चलता है कि ज्वालामुखी भिन्न-भिन्न खण्डों में बारी-बारी से सचेष्ट और निश्चेष्ट (कुपित और शान्त) होते रहे हैं। इस प्रकार के परिवर्तनों से भूमि का रूप भी परिवर्तन होता रहता है। ज्वालामुखी-प्रकोपों के साथ भूचाल भी आते हैं, जिनका प्रभाव यह होता है कि कभी कहीं किसी-जल-भाग में से नई ज़मीन निकल आती है और कभी कोई थल-भाग जल के अन्दर दब जाता है।

पृथ्वी पर और भी कई प्रकार के परिवर्तन होते रहते हैं। साधारणतः भूमि को नारङ्गी या गेंद के समान गोल मानते हैं; पर वस्तुतः पृथ्वी का रूप ऐसा बेडौल है कि इसके रूप की किसी से तुलना ही नहीं की जा सकती है। यह एक विचित्र गोल-मटोल खिलौना है, जो उत्तरी प्रदेश में चपटा, और दक्षिणी ध्रुव की ओर नुकीला हो गया है। भूमध्य रेखा को भी पूर्ण रूप से एक वृत्त नहीं कहा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त प्रति दिन-रात इसका रूप उभरता और सिकुड़ता रहता है। किसी समय थल-भाग का कोई स्थान अपनी मर्यादा से कुछ ऊँचा उठ जाता है और कभी वही भाग कुछ नीचा आ जाता है। पृथ्वी की पपड़ी स्थायी नहीं है। इसकी स्थिति में

परिवर्तन होता रहता है। प्रोफ़ेसर मिल्ने ने यह अनुभव किया है कि ज़ोरों की वर्षा के उपरान्त जापान का पश्चिमी भाग कुछ दब जाता है। सर जार्ज डार्विन ने यह निरीक्षण किया था कि जब इंग्लिश-चैनल में ज्वारभाटा आता है तो पानी के बोझ के कारण थल-भाग कुछ नीचे दब जाता है। प्रोफ़ेसर हेकर का कथन है कि सूर्य और चन्द्र के गुरुत्वाकर्षण के कारण ज्वार-भाटा के समय थल-भाग दबता और उठता रहता है। पृथ्वी के रूप में बराबर परिवर्तन होते रहने का एक और भी कारण बताया जाता है, वह है पृथ्वी का अपनी कीली पर झुके हुए घूमना।

महाद्वीपों और महासागरों के जो नक़शे आजकल विद्यार्थियों को दिखाये जाते हैं, वे भी सदा से ऐसे ही नहीं रहे हैं। हम कह चुके हैं कि अनेक काल ऐसे आये हैं, जब सृष्टि के उस भाग में जहाँ कि आजकल जल है पहले ज़मीन थी, अतः एशिया, यूरोप, अमरीका, आस्ट्रेलिया आदि का जो रूप हम आजकल देख रहे हैं, वह पहले ऐसा न था। कैम्ब्रियन समय में भूमि की जो अवस्था थी उसका एक आनुमानिक चित्र इस प्रकार कल्पित किया गया है। इस समय के जल और थल भागों की आयोजना आजकल की आयोजना से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है। इस समय स्काटलैण्ड, ग्रीन लैण्ड और उत्तरी अमरीका का पूर्वोत्तर भाग मिलाकर एक महाद्वीप बना था। इस भाग में आजकल जहाँ समुद्र है वहाँ पहले थल-भाग था। आजकल के उत्तरी अमरीका का पच्छिमी किनारा जल में डूबा हुआ था। दक्षिण अमरीका में

केवल ब्रेजिल ही एक द्वीप था, शेष दक्षिण का प्रायद्वीप जल में था। अरब और सिन्ध का भाग भी जल में था। आजकल जहाँ पेसिफिक महासागर है वहाँ बहुत से भाग में एक महाद्वीप था, जिसे पेसिफिक महाद्वीप कह सकते हैं। आस्ट्रेलिया का कुछ पश्चिमोत्तरी भाग छोड़कर शेष भी जलान्तर्गत ही था। पर इन साधा-

चित्र ६—सिलूरियन समय का उत्तरी अमरीका

घनी काली समानान्तर रेखाओं से आवृत्त भाग ही स्थल है।
शेष सम्पूर्ण अमरीका समुद्र से घिरा हुआ है।

रण परिवर्तनों के होते हुए भी आजकल के जल-थल भाग में और कैम्ब्रयन-कालीन भाग में विशेष अन्तर नहीं है।

पर यह अन्तर अन्य कालों में बहुत ही बढ़ गया। सिलूरियन काल में तो इतना विकट परिवर्तन हुआ कि उत्तरी अमरीका लगभग सबका सब पानी में डूब गया, ग्रीनलैण्ड
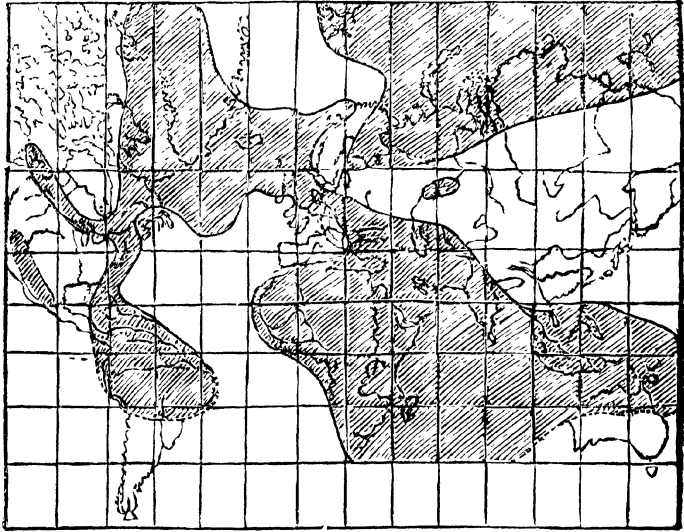
चित्र १०—ओर्डोविसियन समय की पृथ्वी।

इसके स्थल भाग में बनी समानान्तर रेखायें खींच दी गई हैं। शेष भाग में जल है।

का कुछ भाग और युनाइटेड-स्टेट्स का दक्षिण-पूर्वी कोना ही बच रहा।

यहाँ एक चित्र ओर्डोविसियन काल का दिया जाता है, जिसे

प्रोफेसर फ्रेक (Frech) ने कुछ अनुमानों के आधार पर तैयार किया है। इस ओर्डोविसियन काल में तो सम्पूर्ण पृथ्वी के जल-थल-भाग में परिवर्तन हो गया। दक्षिणी गोलार्ध में जहाँ आजकल जल का ही आधिक्य है, एक लम्बा-चौड़ा महाद्वीप निकल आया। यह महाद्वीप वर्तमान अफ्रीका, अरब, भारतवर्ष, हिन्दमहासागर, उत्तरी आस्ट्रेलिया आदि प्रदेशों को लेकर बना था। आजकल की बङ्गाल की खाड़ी, अरबसागर, हिन्द महासागर आदि सब थलमय थे। कहीं जल-भाग था ही नहीं। इसके विपरीत आजकल का चीन, जापान रूस, यूरोप के अनेक देश, उत्तरी अमरीका का पूर्वीय तट छोड़कर शेष भाग तथा दक्षिणी अमरीका का दक्षिणी भाग जलान्तर्गत था। आजकल जहाँ उत्तरी महासागर है, वहाँ ज़मीन थी। ग्रीनलैण्ड इङ्गलैण्ड स मिला हुआ था।

ओर्डोवीसियन समय की यह अवस्था सदा ऐसी न रही। सिलूरियन और डेवोनियन काल में फिर दक्षिणी गोलार्ध मे समुद्र की मात्रा और उत्तरी गोलार्ध में थल-भाग की मात्रा बढ़ गई। कार्बोनिफेरस काल में फिर एक बार उलट-पुलट हुई। इस समय वर्तमान आस्ट्रेलिया, भारतवर्ष, अफ्रीका और दक्षिणी अमरीका को सम्मिलित और संयुक्त कर देने वाला एक विशाल महाद्वीप फिर उत्पन्न हो गया। इसका नाम जैसा पहले कहा जा चुका है गोंडवानालैण्ड पड़ा। इस महाद्वीप की विशेषता इसकी विचित्र वनस्पतियों के कारण थी, जिन्हें ग्लोसोप्टेरिस

(Glossopteris) कहते हैं । यह गोंडवानालैण्ड उत्तरी अमरीका से पृथक् था। उस समय उत्तरी अमरीका उत्तरी महाद्वीप से संयुक्त था। माध्यमिक काल में पृथ्वी में अनेक क्षोभ आरम्भ हुए। पृथ्वी की पपड़ी के टूटने के कारण इसी समय अटलाण्टिक महासागर का वर्त्तमान उत्तरी भाग तथा उत्तरी महासागर बने। ज्वालामुखियों के प्रचण्ड प्रकोप के कारण इस समय ग्रीनलैण्ड और स्काटलैण्ड के बीच का भाग जल में विलीन हो गया और इस प्रकार ये दोनों प्रदेश एक दूसरे से पृथक् हो गये। माइओसीन समय में आल्प्स और हिमालय की श्रेणियों का जन्म हुआ। इसी समय उत्तरी अमरीका के पश्चिमी पर्वत और दक्षिण अमरीका की एण्डीज़ श्रेणियाँ भी बनीं। इस समय एक और विशाल पर्वत-श्रेणी बनी जिसका और भाग तो समुद्र में विलीन हो गया, पर जिसकी चोटियाँ जापान से लेकर न्यूज़ीलैण्ड तक के द्वीपों के रूप में पैसिफ़िक महासागर में आज भी विद्यमान है।

———

बारहवाँ अध्याय

भारतवर्ष की भौगर्भिक परिस्थिति

समस्त भारतवर्ष तीन या चार मुख्य भागों में विभाजित किया जा सकता है। (१) इसके उत्तर प्रान्त की हिमालय की विशाल श्रेणियाँ (२) इसके दक्षिण भाग का अति प्राचीन सैंटो, और (३) हिमालय और दक्षिण सैंटो के बीच में पंजाब से लेकर बङ्गाल तक की सिन्धु-गङ्गा आदि नदियों से सिंचित विस्तृत उर्वरा भूमि। इसके साथ ही साथ यदि राजपूताने की मरुभूमि को भी एक अलग विभाग मानें तो भी कोई हानि नहीं है।

भारत की उत्तरी पर्वत श्रेणियाँ एक ओर पामीर सैंटो से निकलकर अफ़ग़ानिस्तान की ओर गई हैं और दूसरी ओर काश्मीर, पंजाब, संयुक्त प्रान्त, बिहार और बङ्गाल के उत्तर में होती हुई बर्मा में भी पहुँच गई हैं। बर्मा में ये उत्तर से दक्षिण को फैली हुई हैं। पर भारतीय प्रदेशों में इनका विस्तार अधिकतर पूर्व-पश्चिम दिशा में ही है। हिमालय के अन्तर्गत बहुत से ऐसे स्थान हैं जिनके विषय में अभी हमें कुछ भी ज्ञात नहीं हुआ है। एवेरेस्ट पर्वत के शिखर तक पहुँचने का कई बार प्रयत्न किया गया, पर अत्यन्त शीत पड़ने तथा यात्रा की अनेक असुविधाओं के कारण इस प्रकार का प्रयास अभी असफल ही रहा है। तिब्बत

और भारत के बीच में इन पर्वतों की क्या अवस्था है, यह केवल अनुमान से ही ज्ञात हो सकता है। वस्तुतः हिमालय इतनी ऊँची, चौड़ी और पक्की दीवार है, जिसे आज तक कोई पार नहीं कर सका।

भूगर्भ शास्त्र-वेत्ताओं के लिये दक्षिण का त्रिकोणाकार प्लैटो अत्यन्त ही महत्व का प्रदेश है। यह उत्तरी की सम-भूमि और पर्वतों से अनेक आवश्यक बातों में भिन्न है। यह कहना तो सम्भव नहीं है कि पृथ्वी के आदिकाल (लेब्रिसियन और टौरि-डोनियन खंडों) में भारत की क्या अवस्था थी, क्योंकि पृथ्वी इस समय अत्यन्त उग्र, तप्त और विचित्र अवस्था में थी। ज्वालामुखियों का प्रकोप भी आरम्भ हो गया था, पृथ्वी की दशा प्रतिघड़ी बदलती रहती थी। यह वह समय था जब पृथ्वी जल और थल-भागों में विभाजित भी नहीं की जा सकती थी, क्योंकि अत्यन्त ताप के कारण वह जल जो आजकल महासागरों के रूप में दिखाई दे रहा है, भाप के रूप में वायुमंडल में विद्यमान था। अतः इस आदि-कालीन भारत के विषय में यह कहना कि इसका कितना भाग जल था और कितना थल असंगत ही है। इस समय पृथ्वी पर पर्वतों का भी निर्माण नहीं हुआ था, पृथ्वी के शिला कोष और धातु-कोष बन रहे थे। पृथ्वी की पपड़ी का निर्माण होना आरम्भ ही हुआ था। कहीं-कहीं कुछ ठण्डा होने पर सिकुड़न भी पड़ने लगी थी। अस्तु, लेविसियन और टौरिडोनियन काल के भारतवर्ष में न तो पहाड़ थे, न महासागर,

या अन्य सागर ही और कदाचित् दक्षिण का प्लैटो भी उस रूप में नहीं था, जैसा आजकल है और न यहाँ गङ्गा, सिन्धु आदि नदियाँ ही थीं। एक विचित्र अवस्था थी, समस्त पृथ्वी आग की धधकती गेंद थी और भारतवर्ष भी उसी गेंद का एक कोना था।

आदि-काल के पश्चात् पुरातन-काल आया। पृथ्वी में इस समय से विशेष परिवर्तन होने लगे। वस्तुतः पुरातन-काल टौरिडोनियन समय से ही आरम्भ हो जाता है, पर मुख्य परिवर्तन कैम्ब्रियन खण्ड से आरम्भ होते हैं। भारतवर्ष के दक्षिणी लैटो का जन्म इसी समय होता है। यह कहना अनुचित न होगा कि यह दक्षिणी प्लैटो संसार भर के सब थल भागों से अति पुराना है। पृथ्वी के अन्य थल भाग तो भौगर्भिक इतिहास के अन्य कालों में जल में भी डूब चुके हैं, पर दक्षिणी लैटो कैम्ब्रियन काल से लेकर आज तक कभी भी जल में नहीं डूबा। यह दूसरी बात है कि इसके सीमान्त प्रदेश कभी जल में लावित हो गये हों। भौगर्भिक इतिहास में दक्षिणी लैटो की यह एक बड़ी विशेषता है।

इस प्लैटो की दूसरी विशेषता यह है कि इसकी शिलायें अन्य प्रान्तों की शिलाओं की अपेक्षा भिन्न प्रकार से क्रम-बद्ध की गई हैं। पर्वतों में चट्टानें दो प्रकार से लगी पायी जाती हैं, एक पड़ी, दूसरी खड़ी। पड़ी चट्टानें एक पर दूसरी रक्खी होती हैं और खड़ी चट्टानें एक दूसरे से मिली हुई सटी रक्खी होती हैं। दक्षिणी लैटो की चट्टानें अधिकतर पहले ही प्रकार की हैं। एक पर दूसरी

पड़ी चट्टानें इस दृढ़ता से रखी हुई हैं कि कैम्ब्रियन काल से आज तक ये वैसी की वैसी ही बनी हुई हैं।

तीसरी बात जो इस प्लैटो के सम्बन्ध में उल्लेखनीय है वह यह कि इस प्लैटो पर जो पहाड़ मिलते भी हैं, उन्हें वस्तुतः पहाड़ नहीं समझना चाहिये। यह प्लैटो के अवशिष्ट (बचे हुए) अंश हैं। वस्तुतः यह प्लैटो प्राचीन समय में बहुत ही विस्तृत था, उसके कुछ अंश कालान्तर में कट कर नष्ट होगये और कुछ अंश यतस्ततः टीलों के रूप में अब तक खड़े रह गये हैं। प्राचीन अति उच्च प्लैटो के वे अंश ही दक्षिण के पहाड़ हैं।

उत्तर भारत के पहाड़ इस प्रकार के नहीं हैं। उनके पर्वत वस्तुतः पर्वत हैं। इस भेद को समझने के लिये हमें इस बात पर ध्यान देने की आवश्यकता है कि हम जानें कि पहाड़ किस प्रकार बनते हैं। पहाड़ों के बनने की तीन विधियाँ हैं। कल्पना करो कि एक विस्तृत मैदान है, अब यदि इस मैदान की ज़मीन इधर-उधर कुछ स्थानों पर नीचे धँस जाय तो फिर देखनें में यह मालूम होगा कि कुछ स्थानों की अपेक्षा दूसरे स्थान अति ऊँचे उठे हुए हैं। यदि आप नीचे धँसे हुए भाग पर खड़े हुए हैं तो वे भाग ऊँचे टीलों के रूप में दिखाई देंगे। इनको पहाड़ समझा जा सकता है। अतः पहाड़ों के बनने की पहली विधि यह है कि यदि किसी स्थान के चारों ओर की ज़मीन कट जाय, या धँस जाय तो वह दृढ़ अपरिवर्तित स्थान ही पर्वत हो जायगा।

पहाड़ों के बनने की दूसरी विधि पहली विधि की बिल्कुल उलटी है। किसी मैदान की ओर फिर दृष्टि डालिये। इस मैदान की भूमि के नीचे अनेक परिवर्तन हो रहे हैं, और अनेक प्रकार के पदार्थ हैं। अधिक गरमी आदि के प्रभाव से कल्पना कीजिये कि कुछ पदार्थ जमीन को फाड़कर बाहर निकलने का प्रयत्न कर रहे हैं। इसका प्रभाव यह होगा कि वे जोर लगायेंगे और यह भी संभव है कि इस जोर के कारण पृथ्वी का कुछ भाग ऊपर उठना आरम्भ हो, और इस प्रकार कुछ दिनों बाद मैदान पर उठा हुआ टीला मालूम होने लगेगा। बस, पहाड़ भी इसी प्रकार बन सकते हैं। जमीन के अन्दर से जोर लगने के कारण कुछ भूमि उभड़ने लगी और यही पर्वतों के रूप में होगई।

पर्वत बनने का एक तीसरा कारण भी है। मान लीजिये कि ज़मीन के किसी टुकड़े के दो विपरीत सिरों पर जोर लगाया गया। एक तरफ की शक्ति टुकड़े को एक ओर ढकेलती है और दूसरी शक्ति उसे अपनी दृढ़ता के कारण उस ओर ढकेलने नहीं देती। इसका परिणाम यह होगा कि वह ज़मीन का टुकड़ा रोक पाकर ऊपर उठने लगेगा और ऊँचा टीला बन जावेगा।

कहा जाता है कि हिमालय का जन्म भी इसी प्रकार हुआ। भारत के उत्तर में तिब्बत का दृढ़ प्लैटो है। इस प्लैटो ने ज़मीन का कुछ भाग दक्षिण की ओर खिसकाना चाहा। पर दक्षिण में भारत के दक्षिणी प्लैटो के दृढ़ प्रस्तर थे। अतः उस ओर यह ढकेलने में सफल न हुआ। परिणाम यह हुआ कि दोनों प्लैटों के

बीच की ज़मीन ऊपर उठने लगी। वही इस समय हिमालय पर्वत के रूप में विद्यमान है।

दो ओर से दबाव पड़ने के कारण जो पर्वत बनेंगे उनकी चट्टानें खड़े क्रम में लगी होंगी। दूसरी विधि से जो पर्वत बने होंगे उनकी शिलायें एक दूसरे पर पड़ी होंगी। दक्षिण के प्लैटो के स्तर एक दूसरे पर पड़े हुए हैं।

दक्षिणी प्लैटो के पर्वतों को पर्वत नहीं समझना चाहिये। यह अभी कहा जा चुका है। यह दक्षिणी प्रायद्वीप किस प्रकार बना, यह आगे बताया जावेगा।

गङ्गा-सिन्धु नदियों से सिंचित भारत की भूमि भी सदा से वर्तमान न थी। कहा जाता है कि इस स्थान पर पहले समुद्र था। हिमालय इस समुद्र के उत्तर में था। इस विशाल पर्वत-श्रेणी पर नदियों और स्रोतों का जन्म हुआ। इन नदियों ने हिमालय के पत्थरों को चूर-चूर करना आरम्भ कर दिया और ये नीचे की ओर बहने लगीं। पर्वतों को काट-काट कर इन्होंने बालू बनाई। यह मिट्टी और बालू हिमालय के दक्षिण में स्थित समुद्र को धीरे-धीरे पाटने लगी। नदियाँ इस प्रकार की मिट्टी को अपने दोनों किनारों पर जमा करती जाती हैं और उसके बीच में से बहने लगती हैं। बस गङ्गा, यमुना, सिन्धु और ब्रह्मपुत्र द्वारा काटे गये हिमालय पर्वत के चूरे ने ही समस्त समुद्र को पाट दिया और यही आजकल पंजाब, संयुक्त-प्रान्त, बिहार और बङ्गाल के रूप में विद्यमान है। यह सदा स्मरण

रखना चाहिये कि हमारे इस प्रदेश को इन नदियों ने ही बनाया है। यदि ये नदियाँ न होतीं, तो इस उर्वरा भूमि का आज कहीं नाम भी न होता।

राजपूताना कैसे बना ? यह एक बड़ा विवादास्पद विषय है। राजपूताना आजकल मरुभूमि है। लगभग उन्हीं अक्षांशों पर अरब और सहारा की भी मरुभूमि विद्यमान हैं। संभव है, राजपूताना दक्षिणी सैटों का ही कोई भाग हो, अथवा यहाँ पर पहले कोई समुद्र हो। मरुभूमि होने का कारण यहाँ मानसून का अभाव है।

भूगोल के हिसाब से हिमालय की श्रेणियों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) सब से ऊँची श्रेणियाँ—जो २०००० फीट तक ऊँची हैं और जिनपर सदा बर्फ ढकी रहती है। एवेरेस्ट, किंचनचिंगा, धौलगिरि, नङ्गा पर्वत, नन्दा देवी आदि श्रेणियाँ इस भाग में आती हैं। (२) बीच की श्रेणियाँ—जो १२००० से १५००० फीट तक ऊँची हैं, (३) नीची शिवालिक श्रेणियाँ—ये ३००० से ४००० फीट तक की ऊँचाई की हैं।

इन श्रेणियों की भौगर्भिक अवस्था के अनुसार भी तीन भाग किये जा सकते हैं।

(१) उत्तरीय तिब्बत प्रदेश—यह प्रदेश सब से ऊँची श्रेणियों के पीछे स्थित है और इसकी चट्टानों के अवशेषों से पता चलता है कि ये प्राचीन-काल (Paleozoic) के किसी खण्ड से

लेकर आधुनिक-काल के आरम्भिक इओसीन खण्ड तक की बनी हुई है।

(२) मध्य या हिमालय प्रदेश—इसमें उपर्युक्त हिमालय की बीच की श्रेणियों का प्रदेश है। इसमें रवेदार गौण परिवर्तित शिलायें—जैसे ग्रेनाइट आदि हैं।

(३) निम्न हिमालय प्रदेश—इसमें हिमालय की श्रेणियाँ सम्मिलित हैं। यह भाग बहुत-कुछ नदियों द्वारा जमा किये हुए पर्वतीय अंश से बना हुआ है।

ग्लेशियर—हिमालय पर्वत पर भारत की ओर निम्नतम हिम-रेखा पूर्व में १४००० फीट से पश्चिम में १९००० फीट ऊँचाई तक के भाग पर स्थित है, अर्थात् १४०००—१९००० फीट से अधिक ऊँचे भाग पर बारहो मास बर्फ जमी रहती है। तिब्बत की ओर यह रेखा तीन हज़ार फीट के लगभग और अधिक ऊँची है। लग-भग बीस हज़ार फीट ऊँचाई पर हिमालय में बहुत से ग्लेशियर विद्यमान हैं। इनमें कुछ ग्लेशियर तो संसार भर के सब से बड़े ग्लेशियरों में गिने जाते हैं। ग्लेशियरों को वर्फ की नदी समझना चाहिये। हिमालय प्रान्त में इनकी लम्बाई बहुधा दो-तीन मील की पायी गई है। पर कुछ तो चौबीस मील से भी अधिक लम्बे हैं, जैसे कराकोरम की हुञ्जा घाटी के हिस्पार और चोगो-लुङ्गमा ग्लेशियर। इसी स्थान पर बालटोरो और बिआफो ग्लेशियर तो लगभग ४० मील लम्बे हैं। ये २०००० फीट की ऊँचाई से बहकर काश्मीर में सात या आठ हज़ार फीट की ऊँचाई तक उतर आते

हैं। पर सब ग्लेशियर इतने नीचे उतरते नहीं पाये गये हैं। किंचिनचिंगा के ग्लेशियर तेरह हज़ार फीट से नीचे नहीं उतरते। कितनी नीचाई तक कौन ग्लेशियर उतर सकता है, यह उस प्रदेश के अक्षांश पर भी निर्भर है और इसके और भी कारण हैं।

हिमालय के ग्लेशियरों में एक विशेषता है, जो अन्य स्थानों के ग्लेशियरों में नहीं पायी जाती। यहाँ के ग्लेशियरों पर बहुत सी मिट्टी, गर्द, कीचड़ आदि जमा रहता है इतनी मात्रा में कि कभी-कभी बर्फ दिखाई भी नहीं पड़ती। काश्मीर में तो इस गर्द की इतनी मोटी तह रहती है कि वहाँ के गड़रिये इसके ऊपर रहने के लिये झोंपड़ी तक बना लेते हैं।

अब हम भारतवर्ष के भौगर्भिक इतिहास का कुछ उल्लेख करना चाहते हैं। इस देश के ६ भौगर्भिक विभाग किये जा सकते हैं :—

(१) साल्ट रेञ्ज (नमक का पहाड़)—इस प्रदेश की ओर भूगर्भ-वेत्ताओं का ध्यान सर्वप्रथम आकर्षित हुआ था।

(२) हिमालय—इसमें प्रत्येक ऐतिहासिक काल के अवशेष इस सुन्दरता से पाये जाते हैं कि इसका महत्व भूगर्भवेत्ताओं की दृष्टि में बहुत ही अधिक है।

(३) सिन्ध—इसमें क्रीटेशस खण्ड से लेकर आधुनिक काल तक के अवशेष मिलते हैं।

(४) राजपूताना—इसकी मरुभूमि का जन्म अभी प्लाइस्टो-

सीन खण्ड में हुआ है। मरुभूमि के अन्दर दबे हुये माध्यमिक काल के अवशेष इसमें पाये जाते है। अरावली श्रेणियों का निर्माण और भी पुराने समय का प्रतीत होता है।

(५) बर्मा और बिलोचिस्तान—यद्यपि ये दो प्रदेश भारत की दो विपरीत दिशाओं में स्थित हैं, तो भी इनकी भौगर्भिक अवस्था बहुत से अज्ञात ऐतिहासिक कालीन समयों का वृत्तान्त प्रदान करती है।

(६) तटस्थ प्रान्त—माध्यमिक और आधुनिक काल के कुछ वृत्तान्त पूर्वीतट की पहाड़ियों से ज्ञात हो सकते हैं।

संसार के ऐतिहासिक काल को ५ कालों और १६ खण्डों में विभाजित किया जाता है, जैसा कि कई बार कहा जा चुका है। भारतवर्ष के इतिहास की समीक्षा करने के लिये हम सुविधानुसार निम्न विभाग करना अच्छा समझते हैं :—

१—पुरातन-काल (Archæan)

(१) धारवार समूह

(२) कढ़ापा समूह

(३) विन्ध्या समूह

२—प्राचीन-काल (Palæozoic)

(४) कैम्ब्रियन समूह

(५) सिलूरियन, डेवोनियन, और कार्बोनिफेरस समूह

(६) गोंडवाना समूह

(७) परमियन समूह

३—माध्यमिक

(८) ट्राइएसिक समूह

(९) ज्यूरेसिक समूह

(१०) क्रीटेशस (दक्षिण) समूह

४—आधुनिक

(११) इओसीन समूह

(१२) ओलाइगोसीन-माइओसीन समूह

(१३) प्लाइओसीन-शिवालिक समूह

(१४) प्लाइस्टोसीन और आधुनिक

पुरातन-काल की खेदार और 'नाइस' शिलायें (नाइस शिला में अभ्रक, कार्ट्ज और फेल्सपार खनिज होते है) दक्षिणी प्रायद्वीप, उड़ीसा, मध्य-प्रदेश और छोटा नागपुर में पायी जाती हैं, बुन्देलखण्ड में भी ये विद्यमान है। उत्तर-पश्चिम में बड़ौदा के उत्तर से लेकर अरावली पर्वत तक ये फैली हुई हैं। हिमालय पर्वत में भी कराकोरम और काश्मीर की श्रेणियों से लेकर बर्मा के पूर्व तक ये चली गई हैं। भारत की 'नाइस' (gneiss) शिलायें तीन प्रकार की हैं—बङ्गाल नाइस, बुन्देलखण्ड नाइस और नीलगिरी नाइस। बुन्देलखण्ड की लाल रङ्ग की, नीलगिरी की काले रङ्ग की और बङ्गाल की मिश्रित नाइस होती हैं। इन तीनों की शिलाओं में और भी बहुत से भेद हैं, जिनका उल्लेख करना यहाँ सम्भव नहीं है। इस प्रकार पुरातन-काल के आरम्भ में बुन्देलखण्ड, बङ्गाल, दक्षिण की नीलगिरि, राजपू-

ताने की अरावली आदि श्रेणियों का तथा हिमालय के बहुत से भाग का निर्माण हुआ।

धारवार समूह—पुरातन-काल के आरम्भ की इन श्रेणियों के नष्ट-भ्रष्ट तथा जीर्ण होने से धारवार की शिलाओं का जन्म हुआ। धारवार शिलायें गौण शिलायें हैं और इनमें अनेक प्रकार के खनिजों की शिलायें सम्मिलित हैं। अनेक प्रकार के चूने के पत्थर इसी समय के हैं। कावेरी से लेकर दक्षिण-सैंटो के सिरे तक मुख्य धारवार प्रदेश हैं। मैसूर, बेलरी, कर्नाटक, छोटा नागपुर, जबलपुर, अरावली और उत्तरी गुजरात में एवं हिमालय के प्रान्तों में भी धारवार प्रान्त की सी शिलायें पायी जाती हैं। रीवा, जबलपुर, जोधपुर, मकराना आदि स्थानों के सुन्दर सङ्गमरमर इस काल में ही बने थे। एक धातु, जिसे मांगनीज़ कहते हैं, भारतवर्ष में अधिक पायी जाती है। इसके खनिज अधिकतर इन धारवार शिलाओं से ही प्राप्त होते हैं।

कढ़ापा समूह—धारवार-काल में पृथ्वी पर बहुत से पर्वत थे और ये बड़े विस्तार से फैले हुए थे। इस काल के उपरान्त पृथ्वी में बड़ा क्षोभ उत्पन्न हुआ जिससे बहुत से धारवार-कालीन पर्वत टूट गये और उनकी पृथक्-पृथक् अनेक श्रेणियाँ बन गईं। अरावली पहाड़ भी इसी समय बना। इस समय के पश्चात् फिर बहुत दिनों बाद शिलाओं का बनना आरम्भ हुआ। इस समय जो शिलायें बनीं उन्हें कढ़ापा-समूह कहते हैं। इन शिलाओं के विभाग का नाम कढ़ापा इसलिये रखा गया है कि

इस जाति की शिलाओं का सर्व-प्रथम अध्ययन मद्रास के कढ़ापा प्रान्त में किया गया था। यह जाति कढ़ापा में अति स्पष्ट है। कढ़ापा शिलाओं की एक विशेषता यह भी है कि इनमें किसी प्रकार की भी वनस्पति अथवा प्राणियों के अवशेष नहीं मिलते। यह क्यों? इसका कोई भी सन्तोषजनक उत्तर नहीं दिया जा सकता। न तो समुद्री जीवों के ही यहाँ चिह्न हैं, न थलचरों और न पक्षियों के। क्या इससे यह कल्पना करली जाय कि इस भाग में किसी प्राणी का जन्म ही नहीं हुआ था, क्योंकि इसके अन्य परावर्ती समयों में जीवन के स्पष्ट चिह्न मिलते हैं? कढ़ापा शिलायें नल्लामलाइ श्रेणी (३४०० फीट), कृष्णा श्रेणी (२००० फीट), बिजावर, ग्वालियर आदि श्रेणियों में पायी जाती हैं। इन शिलाओं में लोहा और मांगनीज़ के खनिज मिलते हैं।

विन्ध्या समूह—शेल, बालू और चूने के पत्थरों का बना हुआ चौदह हज़ार फीट मोटा यह एक विस्तृत पर्वत-समूह है। बालू के इन पत्थरों के बीच में सभी स्थानों पर इस प्रकार के चिह्न मिलते हैं, जिनसे पता चलता है कि ये पत्थर कम गहराई के समुद्र द्वारा रची गई ज़मीन से बने हैं। समुद्र की लहरों के निशान भी इन पर्वतों पर दिखाई देते हैं। भण्डेर, रीवा, कैमूर, करनूल, भीमा, मलानी आदि श्रेणियों में विन्ध्या-समूह विभाजित किये जा सकते हैं। मलानी श्रेणी (मारवाड़ में जोधपुर के निकट) की विशेषता यह है कि यहाँ शिलाओं में ज्वालामुखी

पर्वतों द्वारा फेंके गये लावा के चिह्न पाये जाते हैं। इसी जाति की शिलायें अनेक स्थानों पर हिमालय में फैली हुई भी देखी गई हैं।

विन्ध्या और अन्य दक्षिणी शिलाओं की जातियों का हिमालय में पाया जाना यह बताता है कि आरम्भ-काल में हिमालय और दक्षिणी प्रायद्वीप मिले हुए थे। बाद को पृथ्वी के गठन में परिवर्तन हुआ जिसके कारण हिमालय अलग हो गया और बीच में सिन्धु-गङ्गा-प्रदेश निकल आया।

कैम्ब्रियन समूह—कैम्ब्रियन-काल की शिलायें जिनमें उस समय के प्राणियों के अवशेष भी हैं, दो स्थानों पर पायी गई हैं। पहला, साल्टरेञ्ज (नमक के पहाड़) में और दूसरे कुमाऊँ प्रदेश के दूरस्थ स्पिती प्रान्त में। इनमें इतने स्पष्ट अवशेष मिलते हैं कि उस समय की आनुमानिक अवस्था बिना कठिनता के ही प्रत्यक्ष हो जाती है।

साल्टरेञ्ज की श्रेणियों में सब से नीचे नमक की तह है और उसके बाद और तहें इस प्रकार हैं:—

नमक और शेल की तह ४५० फ़ीट—लाल और हरे रङ्ग की।

मगनीशियन बालू के पत्थर की तह २५० फ़ीट—श्वेत रङ्ग की।

निओबोलस शेल १०० फ़ीट—ख़ाकी या काले रङ्ग की।

लाल बालू के पत्थर ४५० फ़ीट—लाल रङ्ग की।

साल्ट मार्ल १५०० फ़ीट—लाल रङ्ग की।

साल्ट मार्ल में नमक, चूने का कर्बनेत, और मगनीशिया मिले होते हैं।

सिलूरियन, डेवोनियन और कार्बोनिफेरस समूह :—स्पिती प्रान्त (कुमाऊँ) को कैम्ब्रियन शिलाओं में १५०० फ़ीट मोटी कार्ट्ज़ की और फिर उस पर ५०० फ़ीट मोटी चूने के पत्थर और शेल की चट्टानें हैं जिनमें पाये गये अवशेष सिलूरियन और डेवोनियन काल के सूचक हैं। बर्मा के उत्तरी शान राज्यों में सिलूरियन के आरम्भ समय की अनेक रङ्गों की शेल चूने के पत्थरों से युक्त पायी गई हैं। काश्मीर की पञ्जल श्रेणियों में भी कदाचित् सिलूरियन काल की शिलायें हैं।

डेवोनियन काल के अवशेष चित्राल और उत्तरी शान राज्यों में पाये गये हैं, पर हिमालय और स्पिती में इनकी विद्यमानता संदिग्ध ही है।

स्पिती घाटी के नीचे हिस्से से लगा हुआ ४००० फीट मोटा एक शेल का समूह है जो डेवोनियन और परमियन काल के बीच का बना हुआ माना जाता है। इसे आरम्भिक कार्बोनिफेरस समय का समझना चाहिये।

हिमालय की समस्त श्रेणियों पर पूर्व से पश्चिम तक बराबर अनेक स्थानों पर ज्वालामुखी पर्वतों द्वारा बनी हुई चट्टानें

उपस्थित हैं जिन्हें कर्बोनिफेरस काल का माना जाता है। अन्य-स्थलों में भी ये पायी गई हैं।

गोंडवाना का समूह—नर्मदा के दक्षिण में पहले गोंड राज्य थे। इस गोंड प्रान्त का निरीक्षण करते हुए भूगर्भ-वेत्ताओं को विशेष प्रकार के शिला-समूह मिले जिनमें उसी प्रकार के अवशेष विद्यमान थे जैसे अफ्रीका, मैडागास्कर, आस्ट्रेलिया और दक्षिणी अमरीका में भी पाये गये थे। ये गोंडवाना चिह्न संसार के इतिहास में बड़े महत्व के हैं। इनके आधार पर भूगर्भवेत्ताओं की एक-मत सम्मति है कि पृथ्वी के इतिहास में एक ऐसा समय अवश्य था जब भारतवर्ष एक ओर अफ्रीका और दूसरी ओर आस्ट्रेलिया और दक्षिणी अमरीका से मिला हुआ था। इन सब प्रदेशों से मिल कर जो एक बड़ा महाद्वीप बनता है उसका नाम गोंडवानालैण्ड रक्खा गया है।

गोंडवाना शिलाओं के तलैटी की चट्टानें ग्लेशियल (हिम) काल की द्योतक हैं। यह बात सिद्ध कर दी गई है कि परमियन काल में पृथ्वी पर विशेषतः गोंडवानालैण्ड में, ग्लेशियल काल था। इन चट्टानों के ऊपर कोयले की शिलायें हैं जिनके बनने के लिये गरम जलवायु की आवश्यकता है। अतः ये परमियन काल के बाद की हैं। इनके ऊपर फेल्सपार के ऐसे चिह्न हैं जो बताते हैं कि एक बार फिर गोंडवानालैण्ड में हिमकाल आया।

गोंडवाना शिलाओं में वनस्पति, पशु, मछली, सर्प आदि के अनेक अवशेष पाये जाते हैं। भारतवर्ष में गोंडवाना जाति

की शिलायें बङ्गाल की दामोदर नदी की घाटी और राजमहल में, महानदी की घाटी तक मध्य प्रान्त में, काठियावाड़, कच, और पश्चिमी राजपूताने में पायी जाती हैं। रानीगञ्ज, झरिया आदि स्थानों की कोयले की खानें इसी समय की हैं।

परमियन समूह—कार्बोनिफेरस काल के मध्य में दक्षिण प्लैटो को छोड़ कर शेष भारत की भूमि में प्रबल विक्षोभ आरम्भ हुआ। इस समय यूरोप का वर्तमान भूमध्यसागर उमड़ कर उत्तरी भारत, तिब्बत और चीन में आ गया। वस्तुतः यह भूमध्यसागर पृथ्वी के समस्त उत्तरी गोलार्ध में फैल गया। दक्षिण का प्लैटो मुख्य भारत से पृथक् हो गया। इस प्लैटो का सम्बन्ध सीधे गोंडवाना-महाद्वीप से था। दक्षिण का गोंडवाना महाद्वीप इस प्रकार उत्तरी गोलार्ध के यूरेशिया प्रदेश से पृथक् होगया।

परमियन काल के पत्थर साल्टरेञ्ज, अरावली श्रेणियों, उत्तरी हिमालय, तिब्बत आदि प्रदेशों में पाये जाते हैं। इस समय के प्रस्तर मुख्यतया बालू के पत्थर के होते हैं, जिन पर अनेक स्थानों में विशेष प्रकार के नीले या मटमैले विन्दु या छींटे पड़े रहते हैं (Speckled Sandstones)। इन प्रस्तरों की तह में बाउल्डर तहें (boulder) हैं जो हैम-काल की उत्पन्न प्रतीत होती हैं। इस प्रकार की शिलायें साल्टरेञ्ज, राजपूताना, उड़ीसा तथा अन्य प्रदेशों में जहाँ कहीं भी अन्तिम गोंडवाना काल की चट्टानें होंगी बराबर पायी जाती हैं।

ट्राइऐसिक समूह—हिमालय के इतिहास में यह समय विशेष महत्व का है। स्पिती, गढ़वाल, कुमाऊँ और काश्मीर में इस समय के ३००० फीट तक मोटे शिलाप्रस्तर पाये जाते हैं। साल्टरेञ्ज, बर्मा और बिलोचिस्तान में भी ये बहुत कुछ मात्रा में पाये जाते हैं।

इन सब स्थानों की शिलाओं में शेल, चूने के पत्थर, स्लेट आदि पदार्थ होते हैं।

ज्यूरैसिक समूह—ट्राइऐसिक चट्टानों के ऊपर हिमालय में ज्यूरैसिक समय की शिलायें भी स्पष्ट दिखाई देती हैं। ये भी काफी मोटी हैं और शेल तथा चूने के पर्वत की बनी हुई हैं। इनमें घोंघे, मछलियों के अवशेष तथा सर्प अमफीबिया आदि जीवों के चिह्न पाये जाते हैं। स्पिती, गढ़वाल और कुमाऊँ में इस काल की चूने के पत्थर की चट्टानें दो-तीन हज़ार फीट मोटी हैं। इन पत्थरों की अवस्था पर विचार करने से यह पता चलता है कि ये समुद्र के तट पर बनी थीं और यह समुद्र काफ़ी गहरा था। इस समय के प्रस्तर बर्मा के उत्तरी शान-राज्य में भी पाये जाते हैं।

विन्ध्या श्रेणियों के निर्माण के पश्चात् ज्यूरैसिक काल के आरम्भ तक दक्षिणी प्रायद्वीप स्थल रूप में विद्यमान रहा। इस समय इस प्रायद्वीप में वह समस्त भाग भी था जो आजकल राजपूताना कहलाता है। यह अवश्य था कि कुछ भाग धीरे-धीरे कटते जा रहे थे। ज्यूरैसिक काल में अब इस प्रायद्वीप के निचले

भाग जैसे राजपूताना आदि में भी समुद्र उमड़ आया। कच्छ प्रदेश में ज्यूरैसिक समय के विशेष प्रस्तर पाये जाते हैं जिनका भूगर्भ-वेत्ताओं ने विस्तृत अध्ययन किया है।

क्रीटेशस समूहः—इस समय के प्रस्तर तो अनेक रूपों में भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में पाये जाते हैं। उत्तरी हिमालय, बिलोचिस्तान, साल्टरेञ्ज, कोरोमण्डल तट, नर्मदा की घाटी, आदि में ये विद्यमान हैं। इस समय के प्रस्तरों का वृत्तान्त इतना विस्तृत है कि उसका उल्लेख इस छोटे से स्थान पर नहीं किया जा सकता है।

परमियनकाल तक हिमालय से समुद्र की लहरें टकराती रहीं। उसके पश्चात् समुद्र की तलैटी धीरे-धीरे उठने लगी और उत्तरी भारत का जल भाग कम होने लगा। हिमालय भी उठने लगा। इसके इतिहास में तीन समय विशेष उल्लेख के हैं, जब मुख्य परिवर्तन हुए—पहला इओसीनखण्ड के मध्य में, दूसरा—माइओसीनखण्ड के बीच में और तीसरा—लाइओसीन काल में।

क्रीटेशसकाल के अन्त में गोंडवानालैण्ड महाद्वीप भी खण्ड-खण्ड हो गया और भारतवर्ष के प्रायद्वीप ने वह रूप धारण किया जो इस समय है। इओसीन काल के बने प्रस्तर रानी-कोट, और किरथर श्रेणियों में पाये जाते हैं। माइओसीन और प्लाइओसीनकाल में बर्मा की मिट्टी के तैल की खानों का जन्म

आसाम का १८९७ का भूचाल भारत के इतिहास में स्मरण रखने योग्य है। यद्यपि आजकल भारत में ज्वाला मुखियों का नितान्त अभाव है, पर कौन जानता है कि पृथ्वी के गर्भ में कोई प्रबल ज्वालामुखी बन रहा हो जिसके प्रकोप से भारतवर्ष छिन्न-भिन्न हो जाय !! प्रलय के समय क्या होगा, कौन जान सकता है !!

तेरहवाँ अध्याय

जीवन का प्रारम्भ

सम्पूर्ण सृष्टि को वर्तमान रूप धारण करने में कितना समय लगा, यह कहना कठिन है। इसका जो स्वरूप इस समय है वह भी स्थायी नहीं है। प्रतिदिवस इस में सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिवर्तन होते रहते है, अतः कितने दिनों तक इसका यह रूप आगे रहेगा, यह भी नहीं कहा जा सकता।

जितनी भी सृष्टि हमें दृष्टिगत होती है वह सजीव और निर्जीव दो भागों में विभाजित की जा सकती है। सजीव और निर्जीव का क्या तात्पर्य है ? भारतीय दार्शनिक कल्पनाओं के अनुसार जड़ और चेतन दो विभाग किये जाते हैं। चेतन पदार्थों की चेतनता का कारण 'जीव' माना गया है जिसे आत्मा भी कहते हैं। प्रत्येक प्राणी में अलग-अलग जीव होते हैं, इन जीवों के आधार पर ही इन पदार्थों का जीवन है, जब ये जीव शरीर को छोड़ देते हैं, तो कहा जाता है कि अमुक व्यक्ति की मृत्यु हो गई। शरीर से जीव के सम्बन्ध होने का नाम ही जन्म है। जीव अजर, अमर, नित्य, और असंख्य हैं। ये इतने सूक्ष्म माने गये है कि वैज्ञानिक साधनों द्वारा उनका निरीक्षण एवं परीक्षण करना असंभव है।

वैज्ञानिक उपर्युक्त प्रकार के जीव की मीमांसा के प्रति उदा-

सीन हैं। अर्थात् वे न तो इनका अस्तित्व स्वीकार ही करते हैं और न अस्वीकार। वे इस विचार को अज्ञेय मानते हैं।

दार्शनिक रूप से सजीव और निर्जीव पदार्थों में चाहे कुछ भी भेद क्यों न हो, पर वैज्ञानिकों के अनुसार इन दोनों में इस प्रकार भेद किया जा सकता है।

(१) सजीव पदार्थ अपने शरीर को सदा परिवर्तित करते रहते हैं। इस प्रकार उनका शरीर नया बनता रहता है।

(२) ये भोजन, वायु, आदि का सेवन करके शक्ति उत्पन्न करते हैं जो इनके भिन्न-भिन्न व्यापारों में काम आती है।

(३) परिस्थितियों के परिवर्तित होने पर भी जहाँ तक हो सकता है ये अपनी दशा स्थिर रखने का प्रयत्न करते हैं। उदाहरणतः वायुमण्डल का तापक्रम चाहे कुछ भी क्यों न हो मनुष्य के शरीर का तापक्रम ९८·५° फ ही के लगभग रहता है।

(४) जहाँ तक हो सकता है, सजीव पदार्थ अन्य आघातक जीवों से अपनी रक्षा करने का प्रयत्न करते हैं।

(५) सजीव पदार्थों में अन्दर से वृद्धि होती है। निर्जीव पदार्थ की वृद्धि बाहर से होती है न कि अन्दर से।

(६) सजीव पदार्थों में प्रजनन-शक्ति होती है। इस प्रकार एक सजीव पदार्थ से उसी जाति के कई अन्य पदार्थों का जन्म होता है।

(७) इन में किसी न किसी प्रकार की स्मृति अथवा बुद्धि होती है।

यहाँ सजीव पदार्थों से हमारा तात्पर्य सम्पूर्ण प्राणि-जगत्, वनस्पति-जगत् तथा उन छोटे-छोटे नन्हें जीवों से है जिन्हें हम केवल सूक्ष्म दर्शक या अनुवीक्षण यंत्र द्वारा ही देख सकते हैं।

हमें अब यहाँ यह देखना है कि सृष्टि में सब से प्रथम जीवन का आरम्भ किस प्रकार हुआ। क्या यह संभव है कि निर्जीव पदार्थों से ही सजीव पदार्थों की उत्पत्ति हो गई हो? बहुत से विचारशील वैज्ञानिक इस सम्भावना को ठीक मानते हैं, उनका कहना यह है कि निर्जीव और सजीव सृष्टि में वस्तुतः कोई अधिक भेद नहीं है। यह ठीक है कि हम अपनी प्रयोग-शालाओं में अभी सजीव पदार्थ बनाने में समर्थ नहीं हो सके हैं, पर भविष्य में इस प्रकार के पदार्थों के बनने की संभावना हो सकती है। जीवन का मूल एक पदार्थ है जिसे प्रोटोसाज्म या कललरस कहते हैं। यह वृक्ष और अन्य प्राणियों में पाया जाता है। इस में कर्बन, उदजन, ओपजन, नोपजन और गन्धक ये पाँच तत्व होते हैं। प्रत्येक जीवित पदार्थ में इस का होना आवश्यक है। यह कललरस अभी कृत्रिम साधनों द्वारा तैयार नहीं किया जा सका है। पर इसकी जाति के अन्य पदार्थ बनाये जासके हैं। अभी यह बात संदिग्ध है कि यदि प्रोटोप्लाज्म भी रासायनिक विधियों से बना लिया गया तो उस कृत्रिम पदार्थ में जीवनदायिनी शक्ति होगी भी या नहीं? अध्यात्म-वादियों का विश्वास है कि यह कृत्रिम कललरस प्राकृतिक रस

से अन्य सब बातों में चाहे मिलता-जुलता हो पर जीवनदायिनी शक्ति इसमें न होगी।

पहले कुछ लोगों का विश्वास था कि निर्जीव पदार्थों से सजीव सृष्टि उत्पन्न हो सकती है। दही और चूने को मिला कर बिच्छू बनना, इसी प्रकार अन्य जीवों का तैयार करना भी सम्भव है। फ्रांस के प्रसिद्ध जीवरसायनज्ञ पास्ट्यूर ने इस प्रकार की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक प्रयोग किये। अन्त में उसने दिखा दिया कि केवल निर्जीव पदार्थों से सजीव पदार्थों की सृष्टि होना अभी तक संभव नहीं है।

तो क्या जीवन-शक्ति अनादि है ? पृथ्वी के बनते समय यह कहाँ थी। यह देखा गया है कि किसी भी जीवित पदार्थ को अति उग्र तापक्रम पर रख दिया जाय तो उसके जीवन का अन्त हो जाता है, इस प्रकार यदि उसे अति ठण्डे तापक्रम पर भी लाया जाय तो भी उसका जीवित रहना सम्भव नहीं है। यदि जीवन-शक्ति पृथ्वी पर आरम्भ काल में हो भी तो वह यहाँ कैसे रह सकी क्योंकि पृथ्वी आरम्भिक अवस्था में आग की धधकती गेंद थी। भला इस तापक्रम पर इस जीवन का रहना कैसे सम्भव हो सका।

कुछ वैज्ञानिकों का विचार है कि पृथ्वी पर यह जीवन अन्य ग्रहों से आया। लार्ड केल्विन का विचार है कि यह जीवन अन्य ग्रहों से उल्काओं द्वारा आया। यह कहा जा चुका है कि पृथ्वी का जन्म ही इन उल्काओं द्वारा हुआ है। उल्काओं के

आन्तरिक गुह्यस्थानों में यह जीवन प्रविष्ट था। इसी कारण यह अत्यन्त शीत को भी सहन कर सका, क्योंकि उल्का बहुत ही ठंडे होते हैं। अन्दर छिपे रहने के कारण इस जीवन-शक्ति पर ठंड का प्रभाव न पड़ सका। जब ये उल्का अन्य ग्रहों से पृथ्वी पर गिरने लगे तो अपने अन्दर जीवन-शक्ति के सूक्ष्म कीटाणु भी छिपा कर ले आये। ये कीटाणु ही आजकल मनुष्य, पशु और वनस्पतियों के रूप में विकसित हो गये। कभी-कभी कई उल्काओं का परस्पर में विकट संघर्ष भी होता है, जिसके प्रभाव से ये उग्रतप्त हो जाते हैं। इस अवस्था में जीवन-कीटाणुओं के जलभुनने की सम्भावना भी है, पर यदि वे उल्का किसी आन्तरिक छिद्र में छिपे बैठे हों तो बच भी सकते हैं क्योंकि संघर्ष की गरमी से उल्काओं की केवल ऊपरी सतह ही गरम हो पाती है।

प्रोफेसर स्वान्ते आरहीनियस ने भी गणित के सिद्धान्तों के आधार पर यह कल्पना प्रस्तुत की है कि ये जीवन-कीटाणु इतने सूक्ष्म होते हैं कि प्रकाश की किरणों के दबाव से ही एक ग्रह से दूसरे ग्रह में जा सकते हैं। प्रकाश की किरणों की तरंगों में इतनी काफ़ी शक्ति होती है कि जीवनाणु आसानी से एक ग्रह से दूसरे ग्रह में ढकेले जा सकें। बहुत से छोटे-छोटे जीवनाणुओं को अत्यन्त ठंडे तापक्रमों पर जैसे द्रववायु या द्रवओषजन के तापक्रम पर रखा गया, पर इनकी जीवन-शक्ति का अन्त न हुआ अतः यह स्पष्ट है कि सूक्ष्म जीवनाणु समुचित

शीत सहन कर सकते हैं। दो ग्रहों के बीच में, जो आकाश है वह ओषजन और जलवाष्प से रहित है, अतः जीवनाणुओं के नष्ट होने की संभावना और भी कम हो जाती है।

पर लार्ड केल्विन और आरहीनियस के विचारों से यह समस्या हल नहीं होती कि जीवन का सब से पहले आरम्भ किस प्रकार हुआ। उनके सिद्धान्तों से केवल यही पता चलता है कि एक ग्रह से दूसरे ग्रह में जीव किस प्रकार जा सकते हैं। यदि मान लिया जाय कि पृथ्वी में जीव दूसरे ग्रह से आये, तो प्रश्न यह होगा कि उस ग्रह में जीव कहाँ से आये थे। यदि जीवों की आरम्भिक सृष्टि किसी एक ग्रह में हो सकती है तो कोई कारण नहीं है कि पृथ्वी पर भी क्यों न हो सके। यह हो सकता है कि बारी-बारी से एक ग्रह से दूसरे ग्रह में जीव जाते हों। सब ग्रह एक साथ न बनते ही हैं और न बिगड़ते ही। तो फिर जब कोई नया ग्रह बनेगा तो उस समय के किसी स्थित ग्रह से ये जीव प्रकाश की किरणों अथवा उल्काओं द्वारा उसमें पहुँच जायँगे। यह चक्र निरन्तर चलता रहेगा और इसका कभी अन्त न होगा।

अस्तु, हम इस विवादास्पद विषय को यहीं छोड़ते हैं कि जीवन का आरम्भ कब, कहाँ और कैसे हुआ ? इन प्रश्नों का कोई सन्तोष-जनक उत्तर नहीं है। अभी हम ऊपर जीवित पदार्थों के सात लक्षण कर आये हैं, पर यह आवश्यक नहीं है कि सब जीवों में यह सातों बातें पायी ही जाती हों, कम से कम उन जीवों में जिनका जन्म आदि काल में हुआ था। इन लक्षणों

में से कई तो घट भी नहीं सकते। जो जीव सब से पहले पैदा हुआ होगा उसके लिये यह समस्या ही न थी कि अन्य जीवों के आक्रमण से अपनी रक्षा करे। आरम्भ में इस जीव में 'स्मृति' भी नहीं थी। आरम्भ की अवस्था में पृथ्वी कर्बनद्वि-ओषिद और वाष्पयुक्त अति घने वायुमंडल से आवृत्त थी। इस अवस्था में इन जीवों की परिस्थिति में भी बहुत समय तक कोई परिवर्तन न हुआ।

अब शेष रहीं तीन-चार बातें, अर्थात् आवश्यकीय पदार्थ ग्रहण करना और अनावश्यक पदार्थ निकाल देना अर्थात् भोजन ग्रहण करना और मल त्याग करना। भोजन द्वारा शक्ति और सामर्थ्य उत्पन्न करना, जिससे अन्य काम किये जा सकें, तीसरी बात यह कि एक जीव से कई-कई जीवों का उत्पन्न होना, और इन जीवों के टुकड़े होकर फिर अन्य कई जीव बनना। पर ये तीनों बातें रवों में भी पायी जाती हैं जो बिल्कुल निर्जीव पदार्थ समझे जाते हैं। तूतिया, फिटकरी, या नमक के रवे बनते और बढ़ते हुए सब ने देखे होंगे। गरम करके फिटकरी का एक गाढ़ा घोल बनाइये। अब इसे ठंडा होने दीजिये, पहले एक छोटा सा रवा पृथक होगा। यह रवा घोल से अपना भोजन ग्रहण करता हुआ अपने शरीर की वृद्धि करता जायगा। यदि घोल में कुछ अन्य अशुद्धियाँ या अनावश्यक पदार्थ मिला दिये जायँ तो उनको यह ग्रहण न करेगा। जब एक रवा किसी हद तक बड़ा हो गया तो आगे इसकी वृद्धि रुक जायगी, और इसके टुकड़े होकर अन्य

छोटे-छोटे रवे बनने लगेंगे। इन्हें पहले रवों की सन्तान कहा जा सकता है। ये सब रवे बिल्कुल एक ही रूप के होते हैं, जिस प्रकार एक जाति की सब सन्तानें अपने माता-पिता के अनुरूप होती हैं। प्रोफेसर जूड का कथन है कि इन रवों की स्मरण-शक्ति भी विलक्षण होती है। इनमें कार्य्य-कारिणी शक्ति और सामर्थ्य भी बहुत होती है। इसी शक्ति का उपयोग भोजन ग्रहण करने, अनावश्यक पदार्थों को त्यागने और छोटे-छोटे रवों को बनाने (सन्तानोत्पादन) में किया जाता है। इस प्रकार रवों के बनने में और जीवनाणुओं की प्रक्रियाओं में कोई आवश्यक भेद नहीं है।

एक भेद अवश्य बताया जाता है, वह यह कि रवों की वृद्धि ऊपरी सतह पर पदार्थ के जमने के कारण होती है, पर जीवाणुओं की वृद्धि अन्दर से होती है। यह भेद बहुधा सजीव और निर्जीव पदार्थों के जीवन में किया जाता है। पर यह भेद भी आवश्यक नहीं है। मोन्स. एस. लेडक (Mons. S. Leduc) ने निर्जीव पदार्थों की एक ऐसी आयोजना तैयार की जिसकी वृद्धि बिल्कुल पेड़ों के समान अन्दर से होती थी। उसने शक्कर और तूतिया को मिला कर बीज के समान छोटी-छोटी गोलियाँ बनाई। और इन्हें एक घोल में जिसमें चार प्रतिशत जिलेटिन, ४ से १० प्रतिशत नमक, और दो से चार प्रतिशत तक पांशुज लोहो श्यामिद नामक पदार्थ थे, बो दिया। फिर क्या था, थोड़ी ही देर में निर्जीव वृक्ष उगने लगा। इस वृक्ष की वृद्धि अन्दर से होती थी न कि बाहर से।

इन सब बातों से स्पष्ट है कि निर्जीव सजीव पदार्थों में कोई विशेष भेद नहीं है। वस्तुतः मनुष्य और एक छोटे से कीटाणु में जीवन का जितना अन्तर है, उतना ही अन्तर निर्जीव कहे जाने वाले पदार्थों और इन कीटाणुओं में भी है। कलोद (Colloid) रसायन पर अनेक प्रयोग करके अनेक विख्यात रसायनाचार्यों ने यह दिखा दिया है कि निर्जीव पदार्थों में भी जीर्णावस्था और मृत्यु मानी जा सकती है। पुराने निर्जीव पदार्थों में क्रियाशील शक्ति कम होती है, पर नये बनाये गये निर्जीव पदार्थ अधिक क्रियावान होते हैं। इस प्रकार निर्जीव और सजीव जगत् की शारीरिक प्रक्रियाओं में इतना भेद नहीं है जितना साधारणतः समझा जाता है।

निर्जीव खनिज पदार्थ बहुधा धातुओं के शैलेत (Silicate) होते हैं, अर्थात् धातु और बालू से मिल कर बने होते हैं। सजीव पदार्थों में बहुधा ये तत्व पाये जाते हैं:—कर्बन, उद्जन, ओषजन और नोपजन। ये चार बहुत अधिक मात्रा में तथा हरिन्, गन्धक, स्फुर, पांशुजम्, सैन्धकम्, मगनीसम्, लोहम् तथा खटिकम् धातुएँ थोड़ी सी मात्रा में। अन्य तत्व बहुत ही थोड़ी मात्रा में होते हैं। आदि काल के सब से पहले सजीव पदार्थों में तो केवल कर्बन, उद्जन और ओषजन ही मुख्यतः था। यह आदि सजीव पदार्थ लचीला और नरम था और पानी के साथ मिल कर जेली के समान लचीली वस्तु देता था। जेली वैसलीन के समान चपचपे या लचकदार पदार्थ का नाम है।

आरम्भ में पृथ्वी का पृष्ठ-तल गरम और नम था, और यह अति घने वायुमण्डल से घिरा हुआ था। इस वायुमडंल में वाष्प, और कर्बन द्विओषिद के बादल इस प्रकार घिरे हुए थे कि पृथ्वी के पृष्ठ-तल पर की परिस्थिति बहुत कम परिवर्तित होती थी। दिन और रात में एक ही ताप-क्रम रहता था। यही नहीं, बल्कि वर्ष की प्रत्येक ऋतु में भी ताप-क्रम में कोई भेद न पड़ता। भूमि की ऐसी विचित्र अवस्था थी। वायुमंडल में अनेक अस्थायी संकीर्ण पदार्थ कर्बन, नोषजन और स्फुर तत्वों से बन रहे थे। पृथ्वी के तालावों के पानी में भी इन पदार्थों का संपृक्त घोल विद्यमान था। इन तालावों के किनारे जो कीचड़ था वह आरम्भिक जीवन के लिये सब से उपयुक्त था, क्योंकि यहाँ की जलवायु और तापक्रम बहुत स्थायी था। कीचड़ के नरम होने के कारण आरम्भिक जीवनोत्पादक जेली के आश्रय के लिये यह स्थान सर्वथा योग्य था। ऐसी अवस्था में वायुमण्डल से कर्बन आदि तत्वों का बना हुआ वैसलीन के समान लचलचा पदार्थ इस पंकमयी भूमि में अवतरित हुआ। यहाँ आकर यह नोषजन, हरिन, स्फुर आदि तत्वों से बने हुए यौगिकों से धीरे-धीरे संयुक्त होने लगा, यही जीवन के अवतार की कहानी है। यह जेली पदार्थ कीचड़ में से अपना भोजन प्राप्त करने लगा, अनेक तत्वों से संयुक्त होकर बढ़ने लगा। एक विशेष सीमा तक इसमें वृद्धि हुई।। फिर इसके दो या अधिक टुकड़े हो गये। अनेक रासायनिक प्रक्रियाओं के कारण इनमें क्रियाशील शक्ति उत्पन्न होने लगी। धीरे-धीरे चेतनता के लक्षण

स्पष्ट दिखाई देने लगे। पर अभी यह चेतनता केवल रासायनिक चेतनता के अतिरिक्त और कुछ न थी। अभी इसमें जीवन के चिह्न प्रकट होने आरम्भ नहीं हुए थे। इस प्रकार जो पदार्थ बना उसे 'आदि जीवनाणु' (Protobion) कहना चाहिये।

रसायनशास्त्र के विद्यार्थी यह जानते हैं कि कभी-कभी ऐसा होता है कि यदि दो पदार्थों के बीच में कोई प्रक्रिया आसानी से न होती हो और यदि उसमें कोई तीसरा पदार्थ बहुत सूक्ष्म मात्रा में डाल दिया जाय तो प्रक्रिया की गति बहुत ही बढ़ जाती है। और साथ-साथ विशेषता यह है कि इस तीसरे पदार्थ में स्वयं कुछ परिवर्तन नहीं होता। ऐसे पदार्थों को उत्प्रेरक (Catalyser) कहते हैं। पांशुजहरेत (पोटाशक्लोरेट) को गरम करने से ओषजन बड़ी कठिनता से निकलता है, पर यदि इसमें थोड़ा सा मांगनीज़ द्विओषिद डाल दिया जाय तो प्रक्रिया बहुत शीघ्र होने लगती है। यहाँ मांगनीज़ द्विओषिद उत्प्रेरक का काम करता है। इन उत्प्रेरकों के तीन गुण होते हैं :—

(१) ये प्रक्रियाओं की गति को बहुत बढ़ा देते हैं, और इनकी उपस्थिति में दो पदार्थों के बीच में संयोग आसानी से होने लगता है।

(२) इनकी बहुत कम मात्रा के उपयोग से ही काम चल जाता है।

(३) इनमें स्वयं कोई परिवर्तन नहीं होता है, यद्यपि ये अन्य पदार्थों के परिवर्तन में सहायक होते हैं।

सजीव पदार्थों की चेतनता अथवा क्रियाशीलता का आरम्भ भी इन्हीं उत्प्रेरक पदार्थों पर निर्भर है। आरम्भ में इस आदि जीवनाणु को भी इन्हीं उत्प्रेरकों का आश्रय मिला। कीचड़ में अनेक प्रकार के पदार्थ उपस्थित थे, जहाँ पर जीवन का प्रथम अवतार हुआ। इनमें से कुछ पदार्थों ने उत्प्रेरक का काम किया जिनके कारण प्रकियायें शीघ्र होने लगीं। इसका प्रभाव यह हुआ कि जीवनाणु की सामर्थ्य और कार्यकारिणी शक्ति बढ़ने लगी। इसी सामर्थ्य से जीवनाणु का विभाजन हुआ। एक अणु से दो अणु बने। ये फिर बढ़ने लगे। दो से चार हुए; चार से आठ: और आठ से सोलह, धीरे-धीरे ये इतने समर्थ हो गये कि एक के तीन-तीव, चार-चार टुकड़े होने लगे। इस प्रकार कालान्तर में असंख्य जीवनाणुओं की सृष्टि हो गई।

चौदहवाँ अध्याय

वनस्पतियों का विकास

वनस्पतियों और प्राणियों दोनों में ही जीवन है, जीवन से तात्पर्य यह है कि ये सब अपने शरीर-निर्माण के लिये भोज्य पदार्थों का ग्रहण करते हैं और उन्हें परिवर्तित करके अपने शरीर की वृद्धि कर लेते हैं; इसी भोजन से वे अपने शरीर की रक्षा करते हैं, और सदा हरे भरे अथवा जीवित रहते हैं। वृक्षों की आयु मनुष्यों अथवा अन्य प्राणियों की अपेक्षा बहुत अधिक भी हो सकती है। छोटे पशुओं से लेकर भीमकाय हाथी तक सौ-दो सौ वर्ष से अधिक जीते नहीं पाये जाते हैं, कुछ पशु केवल चार-पाँच या आठ-दस वर्ष में ही अपनी जीवनयात्रा समाप्त कर देते हैं। बरसाती कीड़े-मकोड़े तो और भी अल्प-कालीन होते हैं। इतना ही नहीं, इस सृष्टि में ऐसे भी जीव हैं, जो प्रातः उत्पन्न होते, और दोपहर तक प्रौढ़ावस्था को प्राप्त होकर सायङ्काल तक मृत्यु के ग्रास हो जाते हैं।

पर बहुत से वृक्ष ऐसे अवश्य हैं, जो कई सौ वर्ष जीवित रह सकते हैं। पीपल, बड़ आदि के अति वृद्ध वृक्ष प्रत्येक नगर में देखने को मिल सकते हैं। गौतम बुद्ध के जीवनकाल का बोध-वृक्ष अब भी बुद्ध-गया में अपने प्राचीन इतिहास के स्मरण-

रूप खड़ा हुआ है। जङ्गलों में इसी प्रकार के अनेक वृक्ष मिलेंगे, जिनका जन्म आज से कई शताब्दी पूर्व हुआ था।

पर बाग़ के माली इस बात को भी जानते हैं कि अनेक पौधे थोड़े ही वर्ष जीवित रह सकते हैं। किसान जिस अन्न को बोता है, वह कुछ सप्ताह के पश्चात् अङ्कुर रूप में निकल आता है। फिर धीरे-धीरे थोड़े दिनों में ही बढ़कर एक छोटा सा पौधा हो जाता है। समय पाकर कुछ महीनों में ही इसमें फूल और अन्न आने आरम्भ हो जाते हैं। आठ-दस महीने में ही खेती लहलहाने लगती है। पर इसके बाद दाना पकने लगता और साथ-साथ पौधा भी सूखने लगता है। एक साल का गेहूँ का पौधा दूसरे साल गेहूँ नहीं देता। यही हाल अन्य अन्नों का भी है। प्रति वर्ष नये बीज बोने पड़ते हैं। पर अमरूद और आम के पेड़ों में दो-तीन वर्ष के बाद फल लगने आरम्भ होते हैं और फिर लगभग प्रति वर्ष ही इनमें कुछ न कुछ फल आया करते हैं।

पेड़ या पौधे कई प्रकार के होते हैं। सबने देखा होगा कि बहुत से पेड़ आम, जामुन, नीम, बरगद, पीपल आदि के समान होते हैं। कुछ पेड़ ताड़ या नारियल के समान छत्राकार होते हैं। इनके नीचे एक लम्बा मोटा पत्र-रहित तना होता है और कई गज़ की ऊँचाई पर कुछ कटे हुए पत्ते आते हैं और वहीं उनके फल होते हैं। केले या बाँस के पेड़ में यद्यपि इस प्रकार के छत्र नहीं होते, प्रत्युत इनमें भी लगभग पत्र-रहित लम्बा

तना होता है। कुछ पेड़ पुच्छाकार होते हैं। इनकी पेंदी के निकट से ही कुछ विचित्र शाखें ऊपर को निकलनी आरम्भ होती हैं जो चँवर अथवा घोड़े की पूँछ का रूप धारण कर लेती हैं। बाग़ में फूलों के पौधे और ही प्रकार के होते हैं। इनके अतिरिक्त अनेक लतायें भी तो हैं, जो पेड़ों, खिड़कियों और छप्परों पर चढ़ा दी जा सकती हैं। इनमें से बहुत सी लताओं में तो इतने बड़े-बड़े फल आते हैं जितने दृढ़ वृक्षों में भी नहीं लगते। लौकी, खीरा, ककड़ी, ख़रबूज़ा, तरबूज़, कुम्हड़ा, तोरई आदि फल इन बेलों में लगते हैं। सिंघाड़े की लता पानी पर ही फैलती है।

पौधे या पेड़ों के बोने की कई विधियाँ हैं। कुछ पौधे तो फलों के बीज को मुलायम मिट्टी में बोने से उगने लगते हैं। आम, गेहूँ, चना, आदि ऐसे ही हैं। कुछ पौधों की क़लमें लगा कर भी काम चल सकता है। क़लमी आम लोगों ने खाये होंगे। गुलाब का पौधा भी क़लम लगाने से उग सकता है। इसकी किसी उचित हरी डण्डी को दूसरे स्थान में गाड़ने से यह थोड़े दिनों में सुन्दर पौधा बन जाता है। बहुत से पौधे सूखे फूलों को ज़मीन पर छितरा देने से ही उगने लगते हैं। गेंदे के फूल को मसल कर धरती पर छितार दो। थोड़े समय के बाद यह पौधा उगने लगता है।

इस पृथ्वी पर पौधों और वृक्षों की कितनी जातियाँ हैं, यह कहना अत्यन्त ही कठिन है। एक-एक जाति की बहुत सी उप-

जातियाँ भी हैं। कई प्रकार के आम, कई प्रकार के बेर और कई प्रकार के खरबूज़े देखे होंगे। बग़ीचों में कई प्रकार के गुलाब, और कई तरह के गेंदे देखने में आते हैं। इस प्रकार कौन कह सकता है कि इस भूमण्डल पर कितने प्रकार की जातियाँ और उपजातियाँ वृक्ष और अन्य वनस्पतियों की विद्यमान हैं। पत्थर पर लगी हुई काई भी तो एक भाँति का विचित्र पौधा है। बहुत से जन्तुओं का जीवन इसी पदार्थ पर निर्भर है।

अच्छा, पेड़ों में क्या होता है, यह भी तो सोच लेना चाहिये। साधारणतया ऊपर से देखने पर पेड़ में मोटी छाल, डण्ठल, पत्ते, फल, फूल ही दिखाई देते हैं। पर एक पत्ती के अन्दर और फूलों की प्रत्येक पंखुड़ी में कितना सौन्दर्य भरा हुआ है, इसका तो अनुमान कीजिये। पत्तों में किस प्रकार छोटे-छोटे छिद्र और नसें हैं, उनको तो सोचिये। इस पौधे के तने के भीतर हमारे शरीर की रुधिरवाही नसों और सूक्ष्म नालियों के समान इनमें भी लाखों नलिकायें होती हैं, जिनमें होकर इनका जीवन-रस प्रवाहित होता रहता है। वृक्ष भी पशुओं के समान अन्न और वायु ग्रहण करते हैं।

वृक्ष अपना भोजन जड़ों द्वारा ज़मीन से लेते हैं। पर तो भी इसका मुख्य भाग इनको इस वायुमण्डल से मिलता है। किसी वृक्ष की सूखी लकड़ी को जलाकर देखिये तो पता चल जायगा कि इसमें कितना कोयला होता है। क्या यह कोयला वृक्ष को पृथ्वी से प्राप्त होता है? कदापि नहीं, क्योंकि सब स्थानों की मिट्टी में

कोयले की खान तो होती नहीं है। मिट्टी से भी कोयला नहीं बन सकता है। आप मिट्टी को चाहे जितना गरम करें, या जलायें, इसका कोयला न मिलेगा। शुद्ध मिट्टी को आप गमले में रख देते हैं और पानी डालते हैं, फिर उसमें बीज बो देते हैं। थोड़े समय के उपरान्त यह बीज एक छोटा-सा पौधा बन जाता है। यह पौधा सूख जाने पर यदि धीरे-धीरे जलाया जाय तो फिर कोयला दे देता है। आपने इस पौधे को केवल मिट्टी और पानी दिया था जिसमें से किसी में भी कोयला नहीं है, तो फिर इस पौधे को कोयला कहाँ से मिल गया। क्या आप इस बात पर विश्वास कर सकते हैं कि यह समस्त कोयला पौधे को वायुमण्डल से ही प्राप्त हुआ है। विश्वास करना ही होगा, क्योंकि अन्य किसी स्थान से पौधे के पास यह कोयला पहुँच ही नहीं सकता है।

आप देखते होंगे कि पीपल, आम, नीम, बबूल, इमली आदि के वृक्षों में कितना कोयला विद्यमान है। क्या यह सम्भव है कि यह समस्त कोयला वृक्षों को इस वायुमण्डल से ही प्राप्त हुआ हो? पर बात ऐसी है। वायुमण्डल की वायु में चार चीज़ें मुख्य हैं। एक तो ओषजन (आक्सीजन) जिसके कारण हमारा जीवन सम्भव है, दूसरी नोषजन (नाइट्रोजन) जो ओषजन के तीव्र और उग्र दाहक गुण को मन्द और धीमा कर देती है। तीसरी चीज़ का नाम कर्बन-द्वि-ओषिद है, जो कोयला और ओषजन से मिल कर बनी है। चौथी चीज़ जल के वाष्पमय कण हैं।

भट्टियों में, और रोटी पकाने के चूल्हों में कई मन लकड़ी प्रति

मास प्रत्येक घर या दूकान में जल जाती है। इञ्जनों में कितने सहस्र मन कोयला प्रति दिन जलता रहता है। यह कोयला जल कर कहाँ चला जाता है। कोई भी चीज़ सर्वथा नष्ट नहीं हो सकती, उसका केवल रूप ही परिवर्तित हो सकता है। यह कोयला जिसे हम जलाते हैं, वायु के ओषजन से संयुक्त होकर एक गैस बनाता है, जिसे कर्बन द्विओषिद कहते हैं। इस गैस का कोई रङ्ग या रूप नहीं होता, अतः कोयला के जलने के बाद जब यह गैस बनी और वायु में पहुँच कर मिल गई तो चाहे कितनी भी अधिक मात्रा में यह उपस्थित क्यों न हो, इसे हम नहीं देख सकते हैं। इस प्रकार हमने यह देख लिया कि कोयला जल कर अथवा यों कहिये कि वायु के ओषजन से संयुक्त होकर, वायु में प्रविष्ट हो जाता है।

जिस रोटी को हम खाते हैं, उसमें भी तो बहुत सा कोयला विद्यमान है। जब रोटी सेंकते समय आग में जल जाती है तो कोयला बन कर काली पड़ जाती है, इससे स्पष्ट है कि हमारे आटा में भी कोयला है। यही हाल चावल, दाल और तरकारी का है। सब में कोयला ही कोयला विद्यमान है। इन पदार्थों के भोजन करने का एक प्रकार तात्पर्य्य यही है कि हम भी प्रति दिवस उसी प्रकार कोयला खाते हैं, जिस प्रकार रेलगाड़ी का इंजन। यह भोजन शरीर के अन्दर पहुँचता है और हम इसके जलाने के लिये वायु श्वास द्वारा शरीर में पहुँचाते हैं। जब हम साँस को बाहर फेंकते हैं, तो इस साँस द्वारा कर्बन द्विओषिद बाहर निकल आता

है। साँस का बाहर फेंकना उसी प्रकार का है जैसे इंजन से धुएँ का निकलना। कहने का तात्पर्य्य यह है कि प्रति दिवस हज़ारों मन कोयला भोजन के रूप में या ईंधन के रूप में ख़र्च होता है और ख़र्च होने का मतलब ही यह है कि हवा के ओषजन से संयुक्त होकर यह कर्बन द्विओषिद बना देता है। यह कर्बन द्विओषिद वायु में फैल जाता है।

इससे यह बात समझ में आ जावेगी कि वायु में कोयला कर्बन द्विओषिद के रूप में विद्यमान है। अब सवाल यह है कि पेड़ उस कर्बन द्विओषिद को किस प्रकार ग्रहण करते हैं और फिर वे किस प्रकार इससे कोयला पृथक् करते हैं। पशुओं और वनस्पतियों के जीवन में एक बड़ा भेद है, वह यह कि पशु सदा श्वास द्वारा ओषजन शरीर के अन्दर ले जाते हैं और यह ओषजन उनको जीवन-शक्ति प्रदान करता है। प्रश्वास द्वारा पशु कर्बन द्विओषिद को बाहर फेंकते हैं। कर्बन द्विओषिद पशुओं के जीवन के लिये हानिकारक है। यदि किसी जानवर या मनुष्य को ही क्यों न किसी बन्द कमरे में, जिसमें कर्बन द्विओषिद भरा हो, क़ैद कर दें तो वह कुछ समय के पश्चात् मर जावेगा।

पर वनस्पति की अवस्था विलक्षण है। दिन को सूर्य्य के प्रकाश में ये कर्बन द्विओषिद से ही अपना जीवन प्राप्त करते हैं। पौधों के हरे पत्ते सबने देखे होंगे। इन पत्तों में एक हरा पदार्थ होता है, जिसे पर्णहरिन या क्लोरोफिल कहते हैं। इस हरे पदार्थ की सहायता से पौधे कर्बन द्विओषिद को सूर्य्य के प्रकाश में कर्बन और

ओषजन में विभाजित कर देते हैं। इस मुक्त कर्बन या कोयले से ही उनके शरीर का निर्माण होता है। शेष रहा ओषजन, उसे ये प्राणियों और पशुओं के लाभ के लिये बाहर फेंक देते हैं। इस प्रकार जो वायु हमारे लिये दूषित है वह वनस्पतियों के लिये लाभप्रद हो जाती है। एक का दूसरे से काम निकलता रहता है। यह स्मरण रखना चाहिये कि इस प्रकार की प्रक्रियाओं के लिये सूर्य के प्रकाश की बड़ी आवश्यकता है। यदि सूर्य का प्रकाश न हो तो वनस्पति बहुत शीघ्र ही मुर्झाने लगेंगी। इस प्रकाश की विद्यमानता में ही वे कर्बन द्विओषिद से कर्बन और ओषजन पृथक् कर सकती हैं। रात को अँधेरे में वनस्पतियाँ भी ओषजन ही ग्रहण करती और कर्बन द्विओषिद विसर्जित करती हैं, अतः रात को पेड़ों के नीचे सोना हानिकर बताया गया है।

क्या यह भी जान लेना चाहिये कि इन वनस्पतियों का जन्म किस प्रकार हुआ। सृष्टि के इतिहास के किस काल में इनकी उत्पत्ति हुई, यह कहना तो बहुत ही कठिन है। यह ठीक है कि पशुओं के अति प्राचीन अस्थिपिंजर पदार्थ चट्टानों के बीच में या भूमि के गर्भ में प्राप्त हो जाते हैं, पर पुरातन-कालीन वृक्षों के ऐसे चिह्न बहुत कम प्राप्त होते हैं। इसका कारण यह है कि प्राणियों की हड्डियाँ वनस्पतियों की लकड़ियों की ठठरियों की अपेक्षा कहीं अधिक स्थायी हैं, अतः उनका सुरक्षित रहना भी अधिक संभव है। इसीलिये वृक्षों के प्राचीन अस्थि-पिंजर या अवशेष बहुत कम पाये जाते हैं।

यह अवश्य है कि कहीं-कहीं चट्टानों पर पुराने वृक्षों के पत्तों या डालियों की छाप कुशलपूर्वक सुरक्षित है। ये छापें किस प्रकार बनती हैं? मान लीजिये कि किसी पुराने वृक्ष की डाल या पत्ता उन चट्टानों के बीच में दब गया। पत्तों और डालियों में हमारे शरीर के समान नसें होती हैं। मजबूत नसें अन्य भागों की अपेक्षा अधिक कठोर होती हैं। मान लीजिये कि सम्पूर्ण पत्ता तो पहले नष्ट हो गया और उसकी कुछ नसें बनी रहीं। यदि नष्ट भाग में धूल या मिट्टी भर जाय और बाद को नसें भी नष्ट हो जायँ तो नसों के ख़ाली स्थान की वजह से एक स्पष्ट चित्र बन जावेगा। इस प्रकार के चित्रों को ही छाप कहते हैं, और संग्रह करके इन छापों का अध्ययन करने से हम पुराने वृक्षों के विषय में बहुत कुछ जान सकते हैं।

वनस्पति-शास्त्र के विद्वानों की कल्पना है कि सबसे पहले एक कोष्ठक पौधा जिसे प्रोटोकोकस कहते हैं, पैदा हुआ होगा। यह पौधा आजकल भी पाया जाता है। यदि किसी हड्डी को तोड़ कर देखें तो आपको उसके भीतर अनेक छोटी-छोटी कोठरियाँ दिखाई देंगी। इन कोठरियों को कोष्ठ कहते हैं। ऐसे ही कोष्ठ या छिद्र वनस्पतियों में भी होते हैं। बड़े-बड़े पौधों और वृक्षों में तो असंख्य कोष्ठ होते हैं जिनको गिना भी नहीं जा सकता। इस एक-कोष्ठक या प्रोटोकोकस पौधे में केवल एक ही कोठरी होती है। अतः इससे सूक्ष्म और पौधा मिलना ही असम्भव है। यह पौधा जल में पाया जाता है। इसमें एक कोष्ठ होता है जिसमें

प्रोटोप्लाज्म (कललरस), एक केन्द्र और थोड़ा सा हरा रङ्ग होता है। थोड़े दिनों के पश्चात् इसके केन्द्र से चार कोष्ठों का जन्म होता है। ये कुछ समय तक तो उस एक कोष्ट के अन्दर ही बन्द रहते हैं, पर बाद को बाहर निकल आते हैं। इस प्रकार
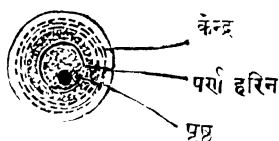
चित्र ११—प्रोटोकोकस

एक प्रोटोकोकस से चार प्रोटोकोकसों का जन्म हो जाता है और यह प्रक्रिया निरन्तर ऐसी ही चलती रहती है। जहाँ पहले एक प्रोटोकोकस था वहाँ अब सहस्रों हो जाते हैं।

कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है कि एक प्रोटोकोकस के भीतर चार कोष्ठों का जन्म तो हुआ, पर परिस्थिति अनुकूल न होने के कारण ये कोष्ट की दीवार खोल कर बाहर न निकल पाये। इसका प्रभाव यह होगा कि ये चारों कोष्ठ उस मुख्य कोष्ठ के अन्दर ही स्थायी हो जावेंगे। इस प्रकार एक और जाति का पौधा बन जावेगा। एक कोष्ठ के पौधे से अब चतुर्कोष्ठक पौधे की उत्पत्ति हो गई। अब इस पौधे की भविष्य में सन्तानें होंगी, उनमें प्रत्येक में चार कोष्ठ मिलेंगे। पर विकास का क्रम इसी प्रकार परिस्थिति के अनुसार और आगे भी बढ़ सकता

है। मान लीजिये कि यह चतुर्कोष्ठक पौधा भी एक साथ चार अपनी सी सन्तानें उत्पन्न करता है। जन्म होने के पश्चात् कुछ समय तक ये चारों उस मुख्य पौधे के गर्भ में ही रहेंगी। यदि परिस्थिति अनुकूल हुई तो ये बाहर निकल कर पृथक् चार सन्तानें हो जावेंगी, पर कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है कि परिस्थिति अनुकूल न हो। ऐसी अवस्था में चारों अन्दर ही रह जावेंगी और अब सोलह कोष्ठ वाली जाति का एक नया पौधा तैयार हो जायगा। इस क्रम को और आगे चलाने से हमारी समझ में यह आ सकता है कि किस प्रकार आरम्भ में एक कोष्ठक पौधे का जन्म हुआ और वह बाद को विकास के नियमानुसार भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में अनेक जातियों के पौधों में परिणत होगया।

यद्यपि अति प्राचीन पौधे इस समय अपने प्रारम्भिक रूप में नहीं पाये जाते, पर यह बात निस्सन्दिग्ध है कि प्रारम्भ में पौधे का जन्म जल के भीतर ही हुआ था। पानी में उत्पन्न होने वाले सूक्ष्म पौधे अलगा (algae) कहे जाते हैं। उसी प्रकार थल पर पाये जाने वाले पौधों में सब से आरम्भ की फफूँदी (fungi) है। इन पौधों में न तो तना ही होता है और न पत्ते ही। सम्पूर्ण शरीर छोटे-छोटे कोष्ठों का बना होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि एक-कोष्ठ पौधों (प्रोटोकोकस) के जन्म के बाद बराबर इन अलगा और फफूँदियों से ही पृथ्वी का धरातल आवृत्त था, और लाखों वर्ष तक इस पृथ्वी पर इसके

अतिरिक्त और कोई पौधा ही न उगा। पृथ्वी की आधी से अधिक आयु ऐसे ही बीती। इस समय तक जितने पशुओं के अवशेष पाये जाते हैं वे अधिकतर जल के ही निवासी हैं, जिससे स्पष्ट है कि इस समय स्थल भाग प्राणियों के निवास के अनुकूल न था।

इन अलगाओं से ही अनेक पौधों का जन्म हुआ। आजकल भी ये समुद्रों और अन्य जलस्थानों में पाये जाते हैं। इनकी स्वयं भी अनेक जातियाँ हैं, जो भिन्न-भिन्न रूप की होती हैं। तालाबों और खाइयों में तो ये थोड़ी ही मात्रा में पाये जाते हैं, पर अटलांटिक महासागर में इनका ४०००० वर्ग मील के क्षेत्र-फल में फैला हुआ घना जङ्गल का जङ्गल है। भूगर्भवेत्ताओं का विश्वास है कि प्राचीन समुद्रों में इससे भी बड़े-बड़े जङ्गल विद्यमान थे।

फफूँदियाँ भी अलगाओं के समान सूक्ष्म वानस्पतिक पदार्थ हैं। इन दोनों में भेद केवल यह है कि फँफूदियों में पर्णहरित अर्थात् हरा रङ्ग नहीं होता। यह बहुत कुछ सम्भव है कि अलगाओं से ही फफूँदियों का विकास हुआ हो और भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के कारण दोनों में कुछ भेद हो गये हों।

पहाड़ों की शिलाओं पर भी इसी प्रकार के वानस्पतिक पदार्थ की तह जमी हुई पायी जाती है, जिसे हम शिला-वल्क (lichen) कह सकते हैं। कभी-कभी तो मोटे वृक्षों के तनों पर भी इस प्रकार के पदार्थ जमे हुए पाये जाते हैं। ये शिलावल्क या लिचेन अलगा और फफूँदी दोनों से मिल कर

बने हुए हैं। लिचेन में दोनों इस प्रकार एक दूसरे से आबद्ध हो गये हैं कि साधारण दृष्टि से तो यही प्रतीत होता है कि एक तीसरी ही वानस्पतिक जाति उत्पन्न हो गई है। इसीलिये इन दोनों के मिश्रण का अलग नाम शिलावल्क दे दिया गया है।

प्रोटोकोकस से लेकर फफूँदी और अलगा एवं लिचेन तक सब वानस्पतिक पदार्थों में न तो पत्ते होते हैं, न डण्ठल और न तने। इनके पश्चात् जिन वनस्पतियों का जन्म हुआ उन्हें सेवार (शेवाल) और पुच्छवृक्ष (बहुपत्रक वृक्ष) कहते हैं। जिस
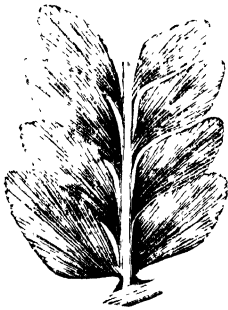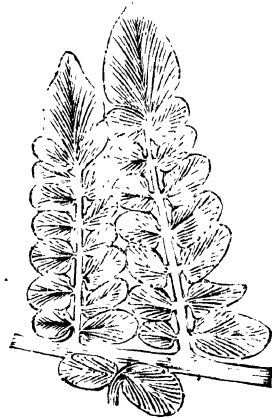
चित्र १२   बहुपत्रक या फर्न   चित्र १३

समय पृथ्वी में कोयला वाली शिलायें बनीं, उस समय यह भूमण्डल इन्हीं दोनों से आवृत्त था। यह स्मरण रखना चाहिये

कि इस समय पृथ्वी इतनी कठोर न थी जितनी आजकल है। सब जगह दलदल और लचलची मुलायम ज़मीन थी। इसमें घोड़े की पूँछ के समान लम्बे-लम्बे पौधे उगने आरम्भ हुए। इनमें से कुछ की लम्बाई तो इतनी अधिक थी जितनी तिमञ्ज़िले या चौमञ्ज़िले मकानों की ऊँचाई होती है। कुछ पौधे जिन्हें फर्न कहते है, बहुत ही घने पत्तों के ऐसे समूह थे जैसे घोड़े की पूछ के चँवर होते हैं। पर इनकी ऊँचाई आजकल के बड़े-बड़े वृक्षों से भी अधिक थी। ऐसे फर्न-वृक्षों (बहुपत्रकों) के जंगल के जंगल फैले हुए थे। पीछे दिये गये दोनों चित्रों से (१२, १३) इन फर्न-वृक्षों के रूप का कुछ अनुमान हो सकता है।

यह कहा जा चुका है कि इन फर्न-वृक्षों के समय की पृथिवी एक प्रकार से दलदल ही थी। पतझड़ की ऋतु में इनकी पत्तियाँ झड़ कर ज़मीन पर गिर पड़ती थीं और दलदल मिट्टी में धँस जाती थीं। इस दलदल भूमि के समीप ही समुद्र थे, जिनकी लहरें इस स्थान पर टक्कर मारा करती थीं। मिट्टी अधिक कठोर तो थी नहीं, जो समुद्र की लहरों का आघात सह सकती। अतः समुद्र के नीचे यह थल भाग दबने लगा। समस्त फर्न-वृक्षों का सघन वन समुद्र में परिप्लावित हो गया। दूर देश की नदियों ने कंकड़-पत्थर, बालू, मिट्टी आदि पदार्थ लाकर इस समुद्र को फिर पाटना आरम्भ किया। दलदल स्थान जो समुद्र में डूब गया था, थल-रूप में फिर निकल आया, पर वह फर्न-वृक्षों का वन इस थल-भाग के गर्भ में ही विलुप्त हो गया। पृथ्वी के इतिहास में इस

प्रकार का जल-थल विनिमय न जाने कितनी बार हुआ होगा और प्रत्येक अदल-बदल में फर्न-वृक्षों के अनेक जंगल ज़मीन में दब गये।

इन दबे हुए जंगलों का क्या हुआ ? इसका उत्तर बहुत ही सरल है। जिस प्रकार लकड़ी को धीरे-धीरे जलाने से कोयला बनता है, उसी प्रकार इन जंगलों की लकड़ी, घास-फूस आदि का कोयला बनना आरम्भ हुआ। भूमण्डल के अन्दर कोयले की जो इतनी विस्तृत खानें पायी जाती हैं, वे इन पुराने फर्न-वृक्षों के जंगलों का ही परिवर्तित रूप हैं। यदि सृष्टि के इतिहास में इन फर्न-वृक्षों का कोई समय न आता तो हमें कोयले के लिये तरसना पड़ता और बिना कोयले के आजकल कोई भी काम होना असम्भव है, यह सभी जानते हैं। अगर आपको विश्वास न हो कि कोयला इन्हीं फ़र्न-वृक्षों से बना है तो किसी कोयले की खान में चले जाइये। खान में काम करने वाले लोग आपको कोयले के ऐसे टुकड़े दे सकेंगे जिन पर फर्न-वृक्षों के पत्तों की स्पष्ट मुहर लगी होगी, जिस पर आपको विश्वास करना ही होगा।

इन पुच्छाकार वृक्षों, सेवारों और फर्नों के पश्चात् छत्राकार वृक्षों का जन्म हुआ। आपने देवदार, ताड़, खजूर, नारियल, अंडी आदि के वृक्ष देखे होंगे। इनके शिर पर एक छत्र होता है। आजकल ऐसे वृक्षों की बहुत थोड़ी ही जातियाँ पायी जाती हैं, पर एक समय था जब इनकी अनेक जातियाँ पृथ्वी पर

उपस्थित थीं। उस समय फूल वाले पेड़ बहुत ही कम थे। सब जगह देवदार की जाति के वृक्षों के घने जंगल पाये जाते थे।

इनके पश्चात् फूल लगने वाले वृक्षों का जन्म हुआ। इस समय पृथ्वी की अवस्था अधिक स्थायी हो चुकी थी, पशुओं और प्राणियों का जन्म होना भी आरम्भ हो गया था। उनके जीवन के लिये भोज्य पदार्थों की आवश्यकता थी। यह भोजन उन्हें वनस्पतियों के फल-फूलों से ही प्राप्त हो सकता था। पृथ्वी पर ऋतुएँ भी नियमानुसार होने लगी थीं। इस अवस्था में फल-फूलों वाले सुन्दर और उपयोगी वृक्षों का जन्म हुआ।

सब से पहले जल में वनस्पतियों की सृष्टि हुई और एक-कोष्ठक पौधे (प्रोटोकोकस) उत्पन्न हुए, इनसे फिर बहुकोष्ठकों की सृष्टि हुई। फफूँदो, अलगा, लिचेन आदि से पृथ्वी आवृत्त हो गई। इनके पश्चात् पुच्छाकार बहु-पत्रक वृक्ष, सेवार फर्न आदि उत्पन्न हुए। इनके समय के उपरान्त छत्राकार वृक्ष जैसे देवदार आदि सृष्टि को सुशोभित करने लगे। और अन्त में फल-फूल वाले वृक्षों और सुन्दर पौधों की रचना की गई।

———

पन्द्रहवाँ अध्याय

पशुओं का अवतार

पशु किसे कहते हैं ? इसमें सन्देह नहीं कि गाय, घोड़ा, बकरी, ऊँट, हाथी आदि सभी पशु हैं, पर यह भी मान लेना चाहिये कि मनुष्य भी एक पशु है। इसे समझदार पशु कहना चाहिये। इसी तरह आकाश में उड़ने वाली चिड़ियाँ भी तो पशु हैं। पानी के अन्दर मगर, मछली और कछुये भी पशु हैं। छोटी-छोटी चींटियाँ, घुन, खटमल, जुएँ, गिंजाई आदि प्राणी और कीट, पतङ्ग सभी पशु कहलाते है। जलचर, नभचर और थलचर ये तीन विभाग बहुत दिनों से किये गये हैं। अर्थात् कुछ पशु ऐसे हैं जो जल के अन्दर रहते हैं, और जल से अलग होते ही मर जाते हैं, कुछ पशु आकाश में उड़ सकते हैं, इनके पङ्ख होते हैं, और कुछ पशु पृथ्वी पर ही रेंगते या चलते हैं। ये जल के अन्दर जीवित नहीं रह सकते । इनके जीवन के लिये वायु की बहुत ही अधिक आवश्यकता है। जल के अन्दर रहने में इन्हें साँस लेने में कठिनाई पड़ती है, अतः ये मर जाते हैं। इनके लिये खुली वायु आवश्यक है।

इन पशुओं की उत्पत्ति के हिसाब से भी हमारे यहाँ तीन वभाग अति प्रचलित हैं—अण्डज, पिण्डज और स्वेदज ।

अर्थात् अण्डों से उत्पन्न होने वाले पशु जैसे चिड़ियाँ और चींटियाँ। पिण्ड से उत्पन्न होने वाले पशु (माता के पेट से बाहर आने वाले) जैसे घोड़ा, हाथी, मनुष्य आदि। पसीने से उत्पन्न होने वाले पशु जैसे खटमल, जुँआ आदि। पशुओं का विभाग एक और प्रकार से भी किया जाता है—दूध पिलाने वाले पशु और चुगाने वाले पशु। घोड़ी, बकरी, गाय, स्त्री आदि अपने बच्चों को दूध पिलाती हैं, पर चिड़ियाँ अपनी सन्तानों को अन्न या कीड़े-मकोड़े चुगाती हैं। इसी प्रकार भोजन के हिसाब से भी पशुओं के दो विभाग किये जा सकते हैं। एक तो शाकाहारी अर्थात् वे पशु जो वनस्पतियों अथवा वानस्पतिक पदार्थों पर जीवित रहते हैं। दूसरे मांसाहारी, जो अपना भोजन किसी दूसरे पशु को बनाते हैं। गाय, बकरी, हाथी, घोड़ा, बन्दर, और मनुष्य स्वभावतः शाकाहारी प्राणी हैं। घास, भूसा, पत्ती, फल-फूल और अन्न इनका भोजन है। शेर, भेड़िया, बिल्ली, कुत्ता, मगर, आदि मांसाहारी हैं। ये अपने से कम बलिष्ठ शाकाहारी पशुओं का शिकार करते हैं। एक मांसाहारी पशु दूसरे मांसाहारी पशु का बहुधा शिकार नहीं करता है, क्योंकि उसका मांस उसे रुचिकर नहीं प्रतीत होता। मांसाहारी मनुष्य भी कुत्ते, बिल्ली, शेर, भेड़िया आदि मांसाहारियों का मांस खाना पसन्द नहीं करते।

यह कहा जा चुका है कि वृक्ष अपना भोजन भूमि अथवा वायुमण्डल से प्राप्त करते हैं। वृक्ष निश्चेष्ट प्राणी हैं, पर पशु सचेष्ट प्राणी कहे जा सकते हैं। ये अपने उदर-पोषण के लिये तरह-

तरह के प्रयत्न करते हैं। मकड़ी जाले में किस प्रकार कीड़े को फँसाने का प्रयत्न करती है। मधुमक्खियाँ अपने भोजन के लिये दूर-दूर तक फूलों पर जाकर मधु संग्रह करती हैं। चींटियाँ भूमि पर से अन्न का एक-एक कण किस कुशलता से अपने छोटे-छोटे घरों में जमा करती हैं। सिंह अपने भोजन के लिये घने बनों में दहाड़ लगाता है, बिल्ली चूहों की खोज में और बगुले मछलियों की तलाश में किस एकाग्रता से ध्यान लगाते हैं। आकाश मे उड़ने वाले चील और बाज़ अपने शिकार को फँसाने के लिये अटूट परिश्रम करते हैं। मनुष्य तो अपना पेट भरने के लिये सब कुछ कर डालता है। इसने अपने उदर-पोषण की आकांक्षा में संसार का रूप ही बदल दिया है।

वनस्पतियों और पशुओं में बड़ा अन्तर है। इन दोनों का विकास भिन्न-भिन्न प्रकार से होता है। पौधों और पशुओं के शरीर के पदार्थों में भी बहुत भेद है। सब से पहला पौधा प्रोटोकोकस माना जाता है, जिससे बाद को पुच्छ-वृक्ष, छत्र-वृक्ष, बहु-पत्रक फर्न, और अन्त में फल-फूल वाले पौधों का जन्म होता है। यह तो पौधों के विकास का क्रम है। पशुओं में सब से पहले बिना रीढ़ की हड्डी और बिना खोपड़ी वाले जलचरों में सम्भवतः बहुत छोटी आरम्भिक मछलियों का जन्म हुआ। पौधों का आरम्भ भी जल में ही होता है। इसके पश्चात् रीढ़ की हड्डी वाले और खोपड़ी वाले जीवों की उत्पत्ति हुई। तत्पश्चात् जिस युग में वनस्पति-जगत् के फर्न-वृक्ष पृथ्वी के अधिकांश भाग को ढके

हुए थे उस समय मछलियों की उत्पत्ति हुई। छत्राकार वृक्षों के समय उरग या सरीसृप अर्थात् साँप के समान पेट से चलने वालों (Reptile) का जन्म हुआ। फल-फूल वाले वृक्ष जब पैदा हुए तब दूध पिलाने वाले पशुओं का आविर्भाव हुआ और सब से अन्त में मनुष्य का अवतार हुआ। मनुष्य विकास की इस शृङ्खला का सब से अन्तिम प्राणी है। यह कहना कठिन है कि मनुष्य के बाद यह विकास आगे क्यों रुक गया। प्रतीत होता है कि मनुष्य इस सृष्टि-रचना का अन्तिम ध्येय है और इसके अवतार के अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न करने के लिये ही अन्य प्राणियों का आविर्भाव हुआ था।

वनस्पतियों के विकास का उल्लेख करते हुए यह बताया जा चुका है कि सबसे पहले प्रोटोकोकस नामक एककोष्ठक पौधे का जन्म हुआ। इस प्रकार पशुओं में भी सबसे पहले एक-कोष्ठक जीव, जिसे प्रोटोज़ोआ कहते हैं, उत्पन्न हुआ। प्रोटोज़ोआ आजकल दो प्रकार के पाये जाते हैं, अस्थि पिंजर या ठठरीयुक्त और बिना ठठरीवाले भी। सबसे पहले जो उत्पन्न हुए होंगे उनके ठठरी न होगी, अतः ऐसे जीवों के भग्नावशेष अब कहीं भी सुरक्षित मिलने असम्भव हैं। हाँ, ठठरीयुक्त प्रोटोज़ोआ के अति प्राचीन अवशेष अब भी पाये जाते हैं। न केवल ये बहुत सी शिलाओं में ही मिलते हैं, प्रत्युत यह भी कहा जा सकता है कि बहुत सी शिलाओं का अधिकांश भाग इनकी ठठरियों के अवशेषों से ही बना है। खड़िया मिट्टी और अनेक

प्रकार के चूने के पत्थर इन छोटे-छोटे कीड़ों के अवशेष से बने हैं।

प्रोटोज़ोआ के भीतर एक छोटा सा केन्द्र होता है और वहीं इसका कलल रस (प्रोटोप्लाज़्म) विद्यमान रहता है। इस जीवन-रस को ही सम्पूर्ण कार्य सम्पादित करने पड़ते हैं, क्योंकि प्रोटोज़ोआ में अन्य प्राणियों के समान अनेक क्रियाशील कोष्ठ तो होते ही नहीं। ये छोटे-छोटे जीव अनेक प्रकार के होते हैं। किसी की पीठ की त्वचा कड़ी पड़ जाती है, और एक छोटा सा मुँह खुला रहता है, जिससे ये अपना भोजन ग्रहण करते हैं। त्वचा के दृढ़ हो जाने के कारण ये अपना रूप परिवर्तित नहीं कर सकते। पर कुछ प्रोटोज़ोआ अपना आकार मृत के समान यथेष्ट घटा-बढ़ा सकते हैं। इस क्रिया द्वारा ही ये भोजन ग्रहण करते हैं।

प्रोटोज़ोआ से दूसरे प्रोटोज़ोआओं की उत्पत्ति होती है। एक प्रोटोज़ोआ के दो या अधिक विभाग हो जाते हैं। यदि परिस्थिति अनुकूल हुई तो ये दोनों विभाग पृथक् पृथक् दो प्रोटोज़ोआ हो जाते हैं, पर अनुकूल परिस्थिति न होने पर दोनों प्रोटोज़ोआ अन्दर ही रह जाते हैं, और इस प्रकार एक-कोष्ठक जीव से द्विकोष्ठक जीव की उत्पत्ति हो जाती है। इस प्रकार का क्रम आगे भी चलता रहता है, और अनेक-कोष्ठक जीवों का विकास होने लगता है।

अनेक-कोष्ठक जीव रीढ़वाले और बे-रीढ़वाले भी हो सकते हैं। स्पञ्ज नामक जीव बे-रीढ़वाले अनेक-कोष्ठक जीव का उदा-

हरण हैं। स्पञ्ज प्रोटोज़ोआ से अनेक बातों में मिलते-जुलते हैं। इनके इन्द्रियाँ नहीं होतीं, और ये गति-शून्य भी होते हैं। इनके बहुत पुराने अवशेष आज तक पाये जाते हैं, जिनसे पता चलता है कि अनेक प्रकार के स्पञ्ज जो पहले सृष्टि में विद्यमान थे, अब विलुप्त हो गये हैं। नीचे के चित्र में स्पञ्ज का एक चित्र दिया जाता है :—

चित्र १४—ओडोविसियन समय का स्पञ्ज

स्पञ्जों के पश्चात् मूँगा और जेली-मत्स्य की बारी आती है। स्पञ्ज में बहुत सी खोखली कोठरियाँ होती हैं, पर मूँगों में एक बड़ी खोखली कोठरी होती है। इन सब प्राणियों का समस्त शरीर गोल-मटोल एकसा होता है, अर्थात् न इनमें कोई सिर होता है, और न धड़। इनका न कोई भाग बायाँ कहा जा सकता है न दायाँ। पर इनमें ज्ञानेन्द्रियों की आरम्भिक अवस्था के कुछ

चिह्न अवश्य प्रतीत होते हैं। पुराने मूँगों के अनेक अवशेष पाये जाते हैं और बहुत सी शिलायें तो इनके अवशिष्ट भागों से मिल कर ही बनी हैं। नीचे मूँगे के दो चित्र दिये जाते हैं।
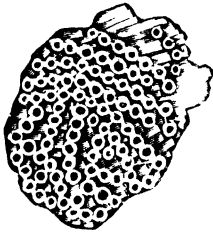
चित्र १५—सिलूरियन काल का मूँगा
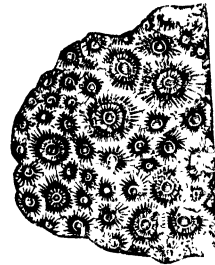
चित्र १६—कार्बोनिफेरस काल की मूँगे की भित्ति

इनके अतिरिक्त अन्य भी छोटे-छोटे अनेक प्रारम्भिक जीवों के अवशेष पाये जाते हैं, जिनकी जातियाँ प्रायः आजकल विलुप्त हो गई हैं। प्राचीन समय में इनकी इतनी मात्रा विद्यमान थी कि उनके अवशेषों से ही बड़ी-बड़ी चट्टानें बन गईं। सामुद्रिक अर्चिन, स्टार-फिश, सी-लिली आदि अनेक प्राणी जो आजकल पाये जाते हैं, उन्हीं की सन्तान हैं।

इनके पश्चात् ऐसे जीवों का आविर्भाव हुआ जो अपने आगे के हिस्से के बल कुछ सरकने लगे। समुद्र में, अथवा भूमि पर केंचुए और जौंक (जलूका) के समान के अनेक कीड़े उत्पन्न होने लगे। ये सब आगे के भाग से सरकते थे। यह आगे का भाग ही शिर कहलाने लगा। इस प्रकार शिरवाले प्राणियों का

अवतार हुआ। शिर निश्चित् हो जाने के पश्चात् इन प्राणियों का दाहिना और बायाँ भाग भी निश्चित हो गया। सिर के बल से ही आगे चलने के कारण सिर में चेतनाशील स्नायुओं की उत्पत्ति हुई, क्योंकि सिर को आवश्यक था कि आगे चलने के लिये मार्ग ढूँढ़े। सिर की यह चेतन-शीलता ही बाद को मस्तिष्क में परिणत हो गई।

इनके पश्चात् अनेक प्रकार के कीड़े-मकोड़ों की उत्पत्ति हुई। शतपदी (centipedes), लोब्सटर, मकड़ी, बिच्छू आदि की
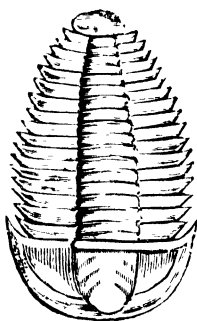
चित्र १७—त्रयंगी

जाति के प्राणी उत्पन्न होने लगे। यहाँ चित्र १७ में पुराने समय का अस्थिपिंजर दिखाया जाता है, जो कैम्ब्रियन काल के ट्राइलो-बाइट (त्रयंगी) जन्तु का है। यह जन्तु छिछले पानी में पाया जाता था और इसका आकार बहुधा तीन-चार इञ्च होता था, पर कभी-कभी २०-२२ इञ्च का भी पाया गया है। इसे त्रयंगी

इसलिये कहते हैं कि इसमें सर्व प्रथम तीन मुख्य अङ्ग—शिर, धड़, और पूँछ प्रकट हुए।

इसी प्रकार की एक जाति 'भुजपद' (Brachiopode) कही जाती है, जिसका एक अवशेष (ओर्डोवीसियन समय का) नीचे दिया जाता है :—
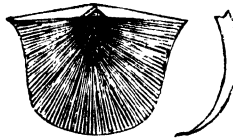
चित्र १८—भुजपदी

इन सब जीवों में परिस्थिति के अनुसार अंगों का विकास आरम्भ होने लगा। पहिले ये आगे के भाग से सरकने लगे जो बाद को सिर हो गया। इनके नीचे छोटे-छोटे पैर से निकल आये। आगे के पैरों से यह जन्तु भोजन पकड़ने का काम लेने लगे। कालान्तर में कुछ जीवों में ये पैर जबड़े के रूप में परिवर्तित हो गये। ये जीव लम्बी नलियों द्वारा वायु को अपने अन्दर ले जाने लगे। इन नलियों के बाहिरी सिरे नाक बन गये। इसी समय फेफड़ों की उत्पत्ति हुई। तत्पश्चात् नेत्रों का भी इन जन्तुओं में विकास हुआ। जन्तुओं में वनस्पतियों की अपेक्षा क्रियाशीलता अधिक है। इसका कारण यह है कि वनस्पति तो अपने स्थान पर स्थिर ही वायुमण्डल तथा पृथ्वी से भोजन प्राप्त कर लेती हैं,

पर जन्तुओं को भोजन प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करना पड़ता है। भोजन जीवन का मूल है और इसके लिये परिश्रम उठाने के कारण ही जन्तुओं में तरह-तरह के अङ्गों का विकास हो गया है। मूँगा के समान कुछ आरम्भिक जन्तु अवश्य ऐसे हैं, जो जीवन भर अपना स्थान नहीं छोड़ते और किसी न किसी पदार्थ के सहारे लटके रहते हैं। केशों के समान इनमें कुछ पतले-पतले अंग होते हैं जिन्हें ये हिलाया करते हैं। इनकी सहायता से ही ये साँस लेते और आहार प्राप्त करते हैं। इस प्रकार प्रारम्भिक अवस्था के वृक्षों और जन्तुओं में अधिक भेद प्रकट नहीं होता, पर बाद को दोनों की शारीरिक रचना में बड़ा ही अन्तर पड़ जाता है।

जितने बड़े प्राणी आजकल पाये जाते हैं, उनमें मछलियाँ सब से पुरानी हैं। इनके दाँत और अन्य ठठरियों के प्राचीन अवशेष अब तक पाये जाते हैं। रीढ़ की हड्डी का सब से पहले मछलियों में ही विकास हुआ। पुरानी मछलियों के जो अवशेष पाये जाते हैं, उनसे पता चलता है कि वे उसी जाति की थीं जिसकी आजकल शार्क और श्वान-मछली (Dogfish) होती हैं। इनमें कुछ का आकार सौ-सौ फीट लम्बा होता था। इन शार्कों को छोड़कर अन्य पुरानी मछलियों के अवशेष अब नष्ट हो गये हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि अति प्राचीन मछलियों के सिर पर हड्डियों के बड़े-बड़े तख़्ते लगे होते थे और इनमें सख़्त केंचुल होती थी। ये केंचुल और हड्डियों के तख़्ते अवशेषों में

आज तक पाये जाते हैं। ये हड्डियों के तख्ते एक प्रकार से ढाल या कवच का काम देते थे। आरम्भ की मछलियाँ तो केवल उतनी ही बड़ी होती थीं जितना हमारी उँगलियाँ हैं, पर बाद को ये जैसा कहा जा चुका है, १० फुट तक लम्बी भी होने लगीं।

साधारण मछलियों में वायु-श्वास लेने के लिये फेफड़े नहीं होते थे, ये केवल पानी को ही श्वासेन्द्रिय (गिल्स) से ग्रहण करती थीं। जल में घुली हुई वायु ही मछलियों को जीवन प्रदान करती थी। मान लीजिये कि किसी तालाब में मछलियाँ हैं, पर गरमी के दिनों में तालाब सूख कर कीचड़ रह गया। पानी के बिना मछलियाँ तड़फड़ाने लगीं। ऐसी अवस्था में ये दीन मछलियाँ वायु-श्वास लेना भी सीख गईं। इस प्रकार की मछलियों की एक दूसरी ही जाति बन गई। इन्हें पंक-मत्स्य या कीचड़ की मछली (Mud-fish) कहते हैं। इनमें फेफड़े भी होते हैं, जिनसे हवा ग्रहण की जाती है और पानी ग्रहण करने के लिये नलिकायें भी होती हैं।

आवश्यकता सब कुछ करा लेती है। आपत्ति पड़ने पर प्रत्येक प्राणी कुछ न कुछ युक्ति सोचता ही है। अब तक प्राणियों का निवास-स्थान जल था, इसके उपरान्त कुछ ऐसी मछलियों का भी विकास हुआ जो कीचड़ में रहने लगीं। इनके शरीर में फेफड़ों का जन्म हुआ। पर कीचड़ भी सूख कर बिल्कुल मिट्टी हो जाने लगा। अब यह आवश्यकता हुई कि ये प्राणी अपने शरीर को कुछ इस प्रकार परिवर्तित कर लें जिससे ये जल और

थल दोनों में ही रह सकें। ऐसी अवस्था में ज़ल-थलचरों

चित्र १९—प्राचीन जल-जीव

(अमफीबिया) का जन्म हुआ। आपने मेंढक देखे होंगे, ये पानी

और ज़मीन दोनों में ही रहते हैं। मेंढकों की अनेक जातियाँ होती हैं। वस्तुतः इनका विकास मछलियों से ही हुआ है, जो परिस्थिति तथा आवश्यकता के अनुसार इस रूप में परिवर्तित हो गई हैं। बहुत से अमफीबिया (जल-थल-चर) तो मगर के समान बड़े होते थे। जिस समय यह पृथ्वी फर्न आदि के वृक्षों से आवृत्त थी, उस समय अनेक जाति के जल-थलचरों का उद्गम हुआ। इनके शरीर में फेफड़े बन गये, ये थोड़ा-थोड़ा बोलने भी लगे, अर्थात् इनमें जिह्वा का भी विकास आरम्भ हो गया। मछलियों में आगे और पीछे जो दो पङ्ख होते हैं, वे इन जल-थल-चरों के आगे-पीछे के दो-दो पैर हो गये। इन पङ्खों के आगे के कटे भाग इन प्राणियों के पैरों की उँगलियाँ हो गईं।

विकास का क्रम यहीं समाप्त नहीं हुआ। इस क्रम से ही संसार के सब जीवों का उद्गम हुआ। जल-थलचरों के बाद पेट के बल सरकनेवाले सर्प-जाति के प्राणियों (Reptile) का जन्म हुआ। इस उरग या सरीसृप जाति के जानवरों से एक ओर तो पक्षियों की उत्पत्ति हुई और दूसरी ओर हाथी, घोड़े, सिंह आदि पशु पैदा हुए। उष्ण-रक्त वाले प्राणियों में चिड़ियाँ सबसे प्रथम हैं। ये उरग प्राणी भिन्न-भिन्न स्थितियों में अनेक रूपों में परिवर्तित हो गये। आजकल इनकी प्राचीन जातियाँ तो लगभग सभी लुप्त हो गई हैं, केवल साँप, कछुये, मगर आदि कुछ जीव रह गये हैं। पर प्राचीन उरग इतने भीमकाय होते थे कि उनके सामने ये पशु बहुत ही छोटे प्रतीत होंगे।

ये उरग सर्वथा शाकाहारी थे और घास आदि खाकर जीवन व्यतीत करते थे। इस समय पेड़ों पर फल-फूल भी लगने आरम्भ हो गये। ऐसी अवस्था में कुछ पशुओं ने पेड़ों पर चढ़ना भी सीख लिया, और कुछ हवा में भी उड़ने लगे। भोजन के कारण इन्हें कभी एक दूसरे से लड़ना भी पड़ता था। इस प्रकार एक दूसरे से रक्षा करने के लिये इनमें अनेक संरक्षक एवं विघातक या प्रतिहिंसक अङ्गों का आविर्भाव हुआ।

यह प्रथम कहा जा चुका है कि इन पशुओं का प्रथम विकास जल में हुआ था। पर अब ये उरग जल से घबड़ाने लगे, और इन्होंने अपने को स्थल की परिस्थिति के सर्वथा अनुकूल बना लिया। फिर भी कुछ भीमकाय उरग जल में घुस ही गये और वहाँ इन्होंने व्हेल मछलियों के समान बड़े-बड़े जल-जीवों को जन्म दिया।

इन प्राचीन भीमकाय प्राणियों के अनेक अस्थिपिंजर पाये गये हैं, इनमें से बहुतों की हड्डियाँ इस प्रकार की हैं जिनसे अनुमान होता है कि ये दूध पिलाने वाले जानवरों के पूर्वज हैं। ये उरगों के समान पेट के बल चलनेवाले जन्तु नहीं थे, बल्कि इनका धड़ भूमि से बहुत ऊपर रहता था, कदाचित् ये कुत्तों के समान चलते थे। केपकोलोनी में एक पिंजर पाया गया जो इस समय साउथ कैनसिंगटन के अजायबघर में सुरक्षित है। इसके दाँतों से पता चलता है कि यह घास-पात खाने वाला जन्तु था और इसकी ऊँचाई ८ फुट थी। डिवना नदी के तट पर एक

मांसाहारी थेरोमोर्फ की ठठरी पायी गई, जिसकी खोपड़ी २ फुट लम्बी थी और सिंह के समान दाँत भी थे।

डिनोसौर नामक जाति के अनेक पिंजर पाये जाते हैं। ऐसा अनुमान होता है कि यह प्राणी हाथी, गेंडा, कँगारू आदि पशुओं के पूर्वज थे। डिनोसौर न केवल शाकाहारी ही थे, प्रत्युत शेर, चीतों के समान मांसाहारी भी पाये जाते थे। कुछ डिनोसौर कँगारुओं के समान पीछे की टाँगों के बल खड़े होते और दौड़ते
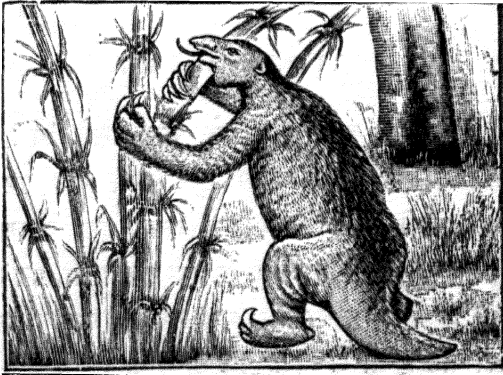
चित्र २०—भीमकाय डिनोसौर

थे। इस प्रकार पीछे के पैरों पर खड़े होकर ये आगे के पैरों से बीस-बीस फुट ऊँचे पहुँच जाते थे और अति ऊँचे वृक्षों की शाखाओं को तोड़ लेते थे।

कँगारू के समान आकारवाले डिनोसौर की सब से पहली ठठरी ससैक्स में खोद कर निकाली गई। ब्रूसेल्स की कोयले

की खानों में फिर इसी प्रकार की २० ठठरियाँ और निकलीं, जो संग्रहालय में सुरक्षित हैं। यहाँ एक ठठरी का चित्र दिया जाता है।
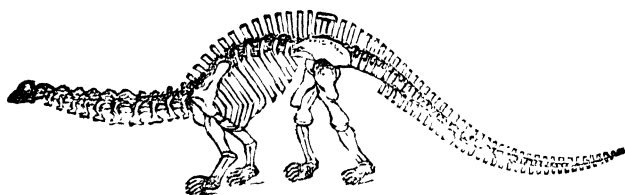
चित्र २१—डिनोसौर की ठठरी

कुछ डिनोसौर चारों पैरों से भी चलते थे। योमिंग (Wyoming) में इनकी अस्सी फुट लम्बी एक ठठरी पायी गई है। इस ठठरी की इतनी अधिक लम्बाई इस कारण है कि इस पशु के गर्दन और पूँछ दोनों ही बड़ी लम्बी थीं, पर सापेक्षतः इसका सिर बहुत छोटा था और धड़ केवल हाथी के समान ही था। इसकी पीठ पृथ्वी से चौदह फुट ऊँची थी।

जो भीमकाय उरग जन्तु बाद को जल में चले गये उन्हें प्लीसिओसौर कहते हैं। इनके चारों पैर चपटे हो गये, जिनसे तैरने का काम लिया जाने लगा, पर इनकी बनावट पैरों के समान ही रही। प्लीसिओसौर की लम्बाई तीस-चालीस फुट होती थी और इनकी गर्दन हंस की सी, पर बड़ी लम्बी होती थी। इनका जीवन जल-मछलियों तथा किनारे पर के पक्षियों और कीड़ों पर

निर्भर था। इनकी लम्बी गर्दन समुद्र या झील के किनारे पर दूर तक शिकार करने का काम देती थी। मनुष्य के विकास के बहुत पहले ही प्लीसिऑसौर लुप्त हो गये।

उरग जाति के जानवरों से आकाश में उड़नेवाले भयङ्कर सर्पों और नागों का जन्म हुआ। इनका आकार बड़ा विशाल होता था और इनके पङ्ख बीस-बीस फुट चौड़े फैल जाते थे। इन्हें टीरोडेक्टाइल (pterodactyls) कहते हैं। इन्हें बड़ा भारी चमगादड़ भी समझा जा सकता है। चिड़ियों से इन्हें भिन्न ही मानना चाहिये, क्योंकि इनके पर पङ्खों के बने नहीं होते थे, ये पतली खाल की छतरी के समान होते थे। इनके फेफड़े भी आजकल के उरगों की अपेक्षा अधिक उन्नतिशील थे।

पक्षियों की उत्पत्ति उरग की किसी जाति से ही हुई है। ऐसा प्रतीत होता है कि कँगारू के समान किसी डिनोसौर से जिनके आगे के पैरों में ५ अँगुलियाँ और पीछे के पैरों में ३ अँगुलियाँ होती थीं, इनका विकास हुआ है। आगे के पैर कालान्तर में जल-जीवों के तैरने वाले अङ्ग हो गये और पक्षियों के उड़ने वाले पंख।

पशुओं के विकास की कहानी में दूध पिलाने वाले चौपायों का प्रादुर्भाव अत्यन्त ही रोचक है। जिस समय इनका प्रथम प्रादुर्भाव हुआ था, समस्त भूमंडल मांसाहारी भीमकाय उरग जाति के पशुओं से भरा हुआ था। इस समय चूहों के आकार के छोटे-छोटे सस्तन प्राणियों (mammal) की उत्पत्ति हुई। इतने

भयंकर मांसाहारी जीवों के समय में ये प्राणी किस प्रकार जीवित रह सके, यह केवल आश्चर्य की ही बात है। इन प्राणियों के दाँत इस बात का प्रमाण हैं कि ये प्रत्येक प्रकार के भोजन पर जीवन निर्वाह कर सकते थे, इसलिये इन्हें उदर-पोषण में अधिक कठिनाई नहीं होती थी। इन जीवों के सुरक्षित रहने का एक यह भी कारण है कि इनका आकार इतना छोटा था कि विशाल शरीर वाले पशु इनपर आक्रमण करने की परवाह भी नहीं करते थे।

इन सस्तन (स्तनयुक्त) पशुओं में अपने पूर्वजों की अपेक्षा अनेक विशेषतायें उत्पन्न होनी आरम्भ हो गईं। इनके फेफड़ों में बिशेष उन्नति हुई। हृदय भी विकसित होने लगा। मस्तिष्क में संकीर्ण कोष्ठों की उत्पत्ति होने लगी। शिर में ज्ञानेन्द्रियाँ प्रौढ़ हो गईं। वस्तुतः इन प्राणियों में शिर और धड़ दोनों पृथक्-पृथक् स्पष्ट होने लगे। यही नहीं, प्रत्येक प्रकार की सर्दी-गरमी सहन करने के लिये जिस प्रकार चिड़ियों में पर उत्पन्न हुए, इन जीवों में छोटे-छोटे बालों से युक्त मोटी खाल जम आई। विकास के उत्तरोत्तर क्रम में इन जीवों ने पिछले दो पैरों से चलना और आगे के दो पैरों से वस्तुओं को पकड़ने का काम लेना आरम्भ किया। यह विकास मनुष्य में अपनी चरम सीमा को पहुँच गया। मनुष्य ने आगे के दो अंगों से चलना बिल्कुल ही छोड़ दिया। ये अंग इसके हाथ कहलाने लगे।

सस्तन नभचर प्राणियों में चमगादड़ सब से अधिक प्रसिद्ध हैं। कुछ उड़ने वाली गिलहरियाँ भी होती हैं, पर ये अधिक नहीं

उड़ सकती हैं। इनका उड़ना एक प्रकार से लम्बी छलाँग का कूदना ही है। कूदते समय ये अपने दाहिने-बायें एक छत्र-सा फैला लेती हैं, जिसके बल ये कुछ समय के लिये हवा में स्थिर रह सकती हैं।

उरगों की एक शाखा का नाम थेरोमोर्फ है। इसके अस्थि-पिंजर में सस्तन प्राणियों के विकास के योग्य सभी चिह्न मिलते
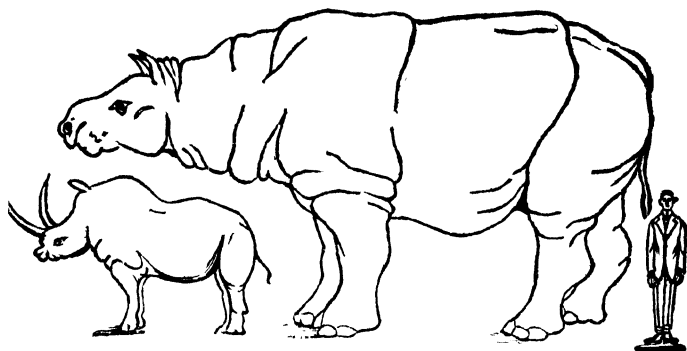
चित्र २२—भीमकाय पशु—देखिए, मनुष्य इसके सामने कितना छोटा लगता है।

हैं, थेरोमोर्फ देखने में भेड़िया या रीछ के समान मालूम होता है और इसके पैर भी सस्तन पशुओं के समान विकसित होते हैं। सस्तन प्राणियों के सब से पुराने जो अवशेष पाये गये हैं, उनमें दाँत और नीचे के जबड़े की हड्डियाँ हैं। ये जबड़े बहुधा एक इंच से भी छोटे होते हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि ये चूहे के आकार के

पशुओं के हैं। यह ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता है कि इन छोटे जीवों के बाद किस प्रकार के पशुओं की उत्पत्ति हुई, क्योंकि वे सब पशु आगे चलकर लुप्त हो गये और उनके क्रमशः अवशेष भी नहीं मिलते हैं। ऐसा विचार किया जाता है कि इन छोटे जीवों का शरीर धीरे-धीरे बढ़ने लगा और बड़े-बड़े पशुओं की उत्पत्ति हो गई। शरीर के साथ-साथ मस्तिष्क की शक्तियाँ भी विकसित होने लगीं, पर जिन पशुओं का शरीर उनके मस्तिष्क की अपेक्षा कहीं अधिक विशाल हो गया था, वे धीरे-धीरे बाद को लुप्त होने लगे। गैंडे, ऊँट, घोड़े आदि सस्तन प्राणी इस बात का प्रमाण हैं कि उनकी उत्पत्ति छोटे शरीर वाले जीवों के विकास से ही हुई है।

आजकल के घोड़े प्राचीन कालीन पूर्वज घोड़ों की अपेक्षा बड़े आकार के हैं। घोड़े की जाति के पशु का सब से पहिला अवशेष उत्तरी अमरीका की शिलाओं में पाया गया, पर इस पशु की ऊँचाई केवल ग्यारह इंच ही थी। हमारे समय के हाथी भी अपने पूर्वजों की अपेक्षा बहुत बड़े थे।

पर बहुत से भीमकाय जन्तु बिल्कुल नष्ट हो गये। पुराने समय में गैंडे की जाति के अनेक जानवर होते थे, जिनके सिर पर न केवल छः सींग ही थे, प्रत्युत दो लम्बे दाँत भी होते थे। टिटेनोथीरियम प्राणी की नाक पर ही दो सींग होते थे। दक्षिणी अमरीका के ग्लिप्टोडोन की पीठ पर हड्डियों की एक ढाल लगी होती थी। मेगाथीरियम पशु हाथी के बराबर आकार

का होता था। आस्ट्रेलिया में पाये जानेवाले अवशेषों से यह पता चलता है कि पुराने समय में वहाँ आजकल जितने बड़े पाये जाते हैं, उसके दुगुने आकार के कँगारू पहले विद्यमान थे।

हाथियों की पुरानी जाति के पशु मैमथ और मेस्टोडान कहे जाते हैं। मैमथ हमारे देश में पाये जानेवाले हाथियों से बहुत मिलता-जुलता है। इसके शरीर पर उस तरह के कुछ बाल होते
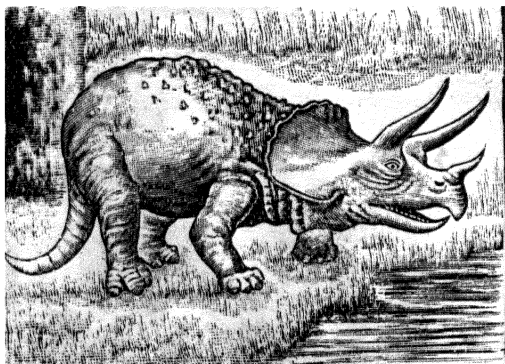
चित्र २४—प्राचीन गैंडा

हैं जिस प्रकार के हाल के पैदा हुए हाथियों के बच्चों के होते हैं। मैमथ के दाँत कुछ अधिक मुड़े होते हैं। मेस्टोडान तो हाथी से और भी अधिक मिलता-जुलता है, और इसकी जाति को लुप्त हुए अभी बहुत अधिक समय नहीं हुआ है। उत्तरी अमरीका में इसका शरीर पूर्णावस्था में प्राप्त हुआ है। कुछ ऐसे जीवों के भी पुराने अवशेष मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि ये हाथियों

के पूर्वज हैं। इनमें से एक के तो ऊपर के जबड़े में दो दाँत न थे, पर नीचे के जबड़े में थे। घोड़े के आकार की भी एक हाथी की ठठरी पायी गई है।

आजकल के घोड़ों के पैरों में खुर होते हैं, पर इसके पूर्वजों के पैरों में शायद पाँच-पाँच अँगुलियाँ होती थीं। बारह इञ्च की ऊँचाईवाला एक जानवर—इओहिप्पस—इस प्रकार का पाया गया है, जिसके आगे के पैरों में चार परन्तु पीछे के पैरों में तीन अँगुलियाँ थीं।

विकास के क्रम का सब से अन्तिम पशु मनुष्य है। इसके

चित्र—२५ कपि या बानर

पूर्वज बन्दर, शिंपाञ्जी, लेमुर आदि हैं। जिस समय मनुष्य का इस सृष्टि में अवतार हुआ था (कोई १५-२० लाख वर्ष पूर्व) उस समय यहाँ पर शेर, मैमथ, गैंडे, बारहसिंगे और बिसन-भैंसे विद्यमान थे। मनुष्य का सम्पूर्ण शरीर इस बात का उदा-

हरण है कि इसका सम्बन्ध छोटे-छोटे जीवों से रहा है। मेंढक के पैर चिड़ियों के पङ्खों में परिवर्तित हुए और वे ही दूसरे स्थान पर कुत्तों के आगे के पैर हो गये। ये ही चिमगादड़ के पर बने, अब मनुष्य के हाथ हो गये। जहाँ जैसी परिस्थिति और आवश्यकता हुई, वहाँ वैसा ही परिवर्तन हो गया। इनके स्नायुतन्तु, रुधिर-प्रणालियाँ, और मांस-पेशियाँ सब एक दूसरे से मिलती-जुलती हैं। विकास के क्रम में यह मनोरञ्जक बात प्रतीत होती है कि ज्यों-ज्यों मस्तिष्क-शक्ति की वृद्धि होती जाती है, शरीर छोटा होता जाता है। भीमकाय पशु संसार से नष्ट हो गये और उनका स्थान बुद्धिमान मनुष्य ने ले लिया। मनुष्य अन्य पशुओं के समान बलवान नहीं है। स्वभावतः इसमें न उड़ने की शक्ति है, न तैरने की, और न पैरों के बल खड़े होकर चलने की ही, क्योंकि भेड़ियों की मादों में पाये गये मनुष्य पशुओं के समान हाथ-पैर चारों से चलते देखे गये हैं। इसके शरीर पर सर्दी-गर्मी से बचने के लिये पशुओं के समान मोटा चमड़ा या घने बाल भी नहीं हैं। यही नहीं, आक्रमणकारी जन्तुओं से रक्षा करने के लिये न इसके दाँत ही शिकारी पशुओं के समान बलिष्ठ हैं, न किसी पर वार करने के लिये इसके पास पञ्जे ही हैं। क्या विचित्र बात है कि परमात्मा ने मनुष्य-रूप इस कौतूहलप्रद जन्तु को एकमात्र 'बुद्धि' देकर सम्पूर्ण प्राकृतिक शक्तियों से रहित कर दिया। मनुष्य इस बुद्धि के उपयोग से जल में तैर सकता है, आकाश में उड़ सकता है, पृथ्वी के अन्दर प्रविष्ट हो

सकता है, हिमालय के बर्फीले शिखरों पर चढ़ने का प्रयास कर सकता है और प्रत्येक प्रकार का शीत और ताप सह सकता है।

मनुष्य की रचना करके परमात्मा ने अपने विकास का क्रम समाप्त कर दिया है, पर मनुष्य की सृष्टि अभी चल ही रही है। कहा नहीं जा सकता है कि इसका अन्त कहां होगा। मनुष्य परमात्मा की सब से अन्तिम और सर्वोत्कृष्ट रचना है और परमात्मा मनुष्य की सब से अन्तिम और सर्वोत्कृष्ट कल्पना है।

————